षाण्मासिकी

श्रीविद्यामंत्रमहायोग

आगमतन्त्र की शोधपत्रिका

प्रकाशक

श्रीविद्या साधना पीठ

वाराणसी -उ.प्र.

वर्ष-२०११

अङ्क-१

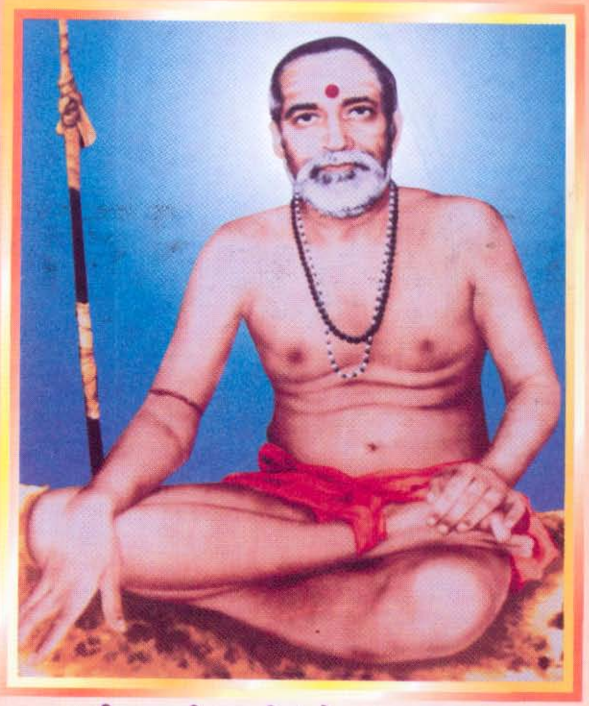

श्रीकरपात्री स्वामी (षोडशानन्दनाथ)

पूज्य गुरूदेव दत्तात्रेयानंदनाथ (सीताराम कविराज)

श्रीविद्यामंत्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)
(षाण्मासिक)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
प्रो० श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ०प्र०)

अंक १

वर्ष अगस्त, २०११

प्रकाशक :
प्रकाशानन्दनाथ
अध्यक्ष
श्रीविद्यासाधनापीठ, शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी।

१ अगस्त, २०११

प्राप्तिस्थान-
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी

मूल्य : १२५/-

SRIVIDYA MANTRAMAHAYOGA

Agamic-Tantric Research Journal
(Bi-annual)

Founder-Editor
Sri Dattatrey anandanatha
(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board
Prof. Kamaleshdatta Tripathi
Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.,
B.H.U.,
Varanasi-5
Prof. Shree Kishor Mishra
Professor of Sanskrit,
Faculty of Arts, B.H.U.
Varanasi-5

SRIVIDYASADHANA PITHA
Varanasi (U.P.)

Number 1 **August, 2011**

Publisher :
Prakashananda Nath
President
SRIVIDY ASADHANA PITHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005 (U.P.)
Ph. : 0542-2366622

1 August, 2011

Publications are available at :
Publications Unit,
Srividyasadhana Pitha
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. : 0542-2366622

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi.

Price : 125/-

सम्पादकीय

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी की षाण्मासिक पत्रिका "श्रीविद्या" अब "श्रीविद्यामन्त्रमहायोग" नाम से प्रस्तुत हो रही है। इसका षाण्मासिक स्वरूप यथापूर्व बना रहेगा। श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का यह प्रथम अङ्क शाक्तसाधना के कुछ अतिविशिष्ट आयामों को सामने रखने का प्रयत्न कर रहा है। वस्तुत: साधनामात्र में शक्तिपरकसाधना की व्याप्ति दिखाई पड़ती है। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने कल्याण के शक्ति अङ्क में प्रकाशित अपने "शक्ति-साधना" शीर्षक लेख में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि "साधनामात्र ही शक्ति की आराधना है, क्योंकि किसी भी मनुष्य की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख चाहे कैसा भी आदर्श लक्ष्यरूप में प्रतिष्ठित क्यों न हो, यदि वह शक्तिसंचय करते हुए अपनी दुर्बलता का परिहार न कर सके तो सम्यग्रूप से उस आदर्श की उपलब्धि कर उसे आत्मस्वरूप में परिणत करने में वह समर्थ न होगा। समस्त सिद्धियाँ शक्तिसापेक्ष हैं। अतएव साधक को चाहे जैसी सिद्धि अभीष्ट हो, उसका आत्मशक्ति के अनुशीलन के बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं।" महामहोपाध्याय कविराज जी ने यह भी सुस्पष्ट रूप से कहा है कि शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य अथवा अन्य किसी भी देवता की उपासना मूलत: शक्ति की ही उपासना है। इस प्रकार से वैष्णव आदि समस्त सम्प्रदायों की सारी साधनाएँ शक्ति-साधना के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त साक्षात् भाव से भी शक्ति की साधना हो सकती है।

इस अङ्क का इसीलिए शक्ति-साधना के कुछ विशिष्ट पक्षों को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के ही पूर्व प्रकाशित लेक "शक्तिपात रहस्य", अनन्तश्री विभूषित श्री करपात्री जी महाराज के निबन्ध "शक्तिपीठ रहस्य" तथा शिवसायुज्यप्राप्त श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ के लेख "त्रैपुर सिद्धान्त दिग्दर्शनम्" से आरम्भ किया गया है ताकि इन महान् विद्वानों और साधकों के विचार समकालीन साधकों को अनायास उपलब्ध हों। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने "शक्तिपात रहस्य" पर गहरा विचार किया है और कहा है कि वह भगवान् की कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता तथा शक्तिपात के बिना पूर्णत्व के मार्ग में प्रवेश भी नहीं किया जा सकता। स्वामी करपात्री जी महाराज ने अपने "शक्तिपीठ रहस्य" लेख में शक्तिपीठ की सृष्टि की पुराणप्रसिद्ध कथा को आधार बनाकर शक्तिपीठों का विवरण और उसके रहस्यार्थ का विवेचन किया है। पूज्य गुरुवर श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ ने अपने संस्कृत लेख में आगमिक पदार्थ का विवेचन करते हुए आगम के रहस्य का विस्तृत विवेचन किया और उसे अनन्त शास्त्रों के रूप में बताया है। समस्त शास्त्र शब्दात्मक हैं और उनसे ही सारा व्यवहार तथा तत्त्वज्ञान मिलता है। सभी शास्त्र पंचाशद्वर्णराशिरूप हैं और परशक्ति स्वरूप हैं। शब्द भी हंसोच्चाररूप है। गुरुवर ने इस हंस के उच्चार का रहस्य उन्मीलित करते हुए उसकी ज्ञानात्मकता को स्थापित किया है और कहा है कि यह ज्ञान शक्तिसाधना के बिना नहीं हो सकता। ज्ञान का अधिष्ठान मातृका है। अतएव आगम का स्वरूप पंचाशद्वर्णराशिरूप मातृका शक्ति है। त्रैपुर सिद्धान्त में यह दर्शन परमरूप में प्रतिष्ठित है और इसलिए उन्होंने त्रैपुरसिद्धान्त के रहस्य के स्वरूप को अपने लेख में स्पष्ट रूप से निरूपित किया है।

इन पूर्व प्रकाशित लेखों के अतिरिक्त प्रो० रमाकान्त आंगिरस का लेख "आर्षकाव्य की सौन्दर्यसाधना एवं श्रीविद्योपासना", डा० राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी का आलेख "उपासना की भावभूमि", डा० श्रद्धा सिंह का लेख "तान्त्रिक पूजाओं में श्रेष्ठ महापूजा", स्वर्गीय डा० किशोरनाथ झा का विस्तृत निबन्ध "दशमहाविद्या एवं स्मार्ततंत्र परम्परा" भी सम्मिलित किया गया है। श्री किशोरनाथ झा के निबन्ध में दशमहाविद्याओं के सम्बन्ध में विस्तृत

विवेचन किया गया है और डा० श्रद्धा सिंह के लेख में परा, परापरा और परापूजा के स्वरूप का निरूपण किया गया है। प्रो० रमाकान्त आंगिरस और डा० राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी के आलेखों में श्रीविद्योपासना और सामान्य शाक्त उपासना के सौन्दर्य और दिव्यता का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

समस्त भारतीय आध्यात्मिक साधना में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है। गुरु का यह स्थान मध्यकालीन साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हुआ है, विशेष रूप से मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में। डा० श्यामसुन्दर शुक्ल ने अपने "शीस दिये जौ गुरु मिलैं तो भी सस्ता जान" शीर्षक लेख में मध्यकाल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में उपलब्ध सन्तों द्वारा गुरुतत्त्व पर व्यक्त किये गये विचारों का विस्तृत विवरण दिया है।

इस प्रकार इस अङ्क में शक्तिसाधना के कुछ अतिविशिष्ट पहलुओं पर सामग्री प्रस्तुत है। आशा है साधकजनों के लिए यह सामग्री उपयोगी होगी।

Editorial

The Biannual journal of Srividyasadhanapitha, Varanasi, entitled "Srividya" is now appearing in a new form with its new nomenclature, "Srividyamantramahayoga". Its biannual character will be maintained as before. The first issue of 'Srividyamangramahatoga' has its focus on a few important aspects of Sakti sadhana or sakti spiritual practice. In fact, Sakti spiritual practice pervades all the spiritual pratices. Mahamahopadhyaya Pt. Gopinatha Kaviraja holds a clear view in this respect in his article entitled "Saktisadhana" published in the sakti anka of 'Kalyana'. He says, "what goes by the name of spiritual practice is the worship of sakti, for whatever remains as an ideal in one's inner vision, one cannot be able to render it into self-realization without having that ideal perfected through accumulating his powers by eliminating his weaknesses and shortcomings. All perfections/atainments (siddhis) are relatively linked with one's own power. Therefore, whatever siddhi is the objective of the sadhaka that cannot be attained without constant cultivation of the power of the self." Kavirajaji has stated very clearly that the worship of any God such as Siva, Visnu, Ganesa, Surya or any other deity is basically the worship of Sakti. Hence all the ways of worship or spiritual practice of the traditions like Vaisnavas and so on, is included in Sakti Sadhana. Besides, Sakti sadhana may take place directly.

With this view a few articles including those of Mahamahopadhyaya Pt. Gopinatha Kaviraja, Anantsrivibhusita Sri Karpatriji Maharaja and revered Guru Sri Dattatreyanandanatha, although previously published, have been included in this issue so that their thoughts are easily made available to contemporary readers and sadhakas. MM. Kavirajaji delves deep into the mystic meanings of the decent of the Sakti in his article "Saktipatarahasya". He emphasizes that the decent of Sakti cannot take place without the grace of the Lord and without the decent of Sakti, the entry into plenitudinous state i.e. purnatava cannot take place. Swami Karpatriji presents the details of Saktipithas along with its secret mystic meanings taking recourse to the Puranic myth of Sati. Revered Guru Sri Dattatreyanandanatha has dealt with the meaning of Agama in his Sanskrit article "Traipurasiddhantadigdarsanam". According to him one of the meanings of Agama is Sastra. All the sastras are in the form of sabda or words. for all the wordly transactions and the ultimate tattvajnana is attained through the Sastras. All the Sastras are in the form of fifty letters (Varnas) and they are of the nature of Supreme Power (Para Sakti). Sabdas are again in the form of hamsoccara. The revered Guru has revealed the meaning of hamsoccara and established its nature as Jnana. This Jnana cannot be attained without sadhana of Sakti and the locus of Jnana is matrka. Hence Agama is in the form of power of the fifty-lettered

matrka. This philosophy has been firmly and supremely established in traipurasiddhanta and therefore, he has revealed the secrets of traipurasiddhanta in his article.

Besides these pre-published articles a few new articles of Prof. Ramakant Angiras, Dr. Rajendra Ranjan Chaturvedi, Dr. Shraddha Singh, (Late) Dr. Kishor Nath Jha and Dr. Shyam Sunder Shukla have also been included in this issue. Dr. Shraddha Singh in her article has dealt with the significance of Tantric puja, especially the ultimate form of the worship i.e. parapuja. Late Dr. Kishor Nath Jha in his elaborate article discusses Dasamahavidyas and the smart tantra tradition. Dr. Kishor Nath Jha substantiates his detailed account with the copious references to the Sastras. Prof. Ramakant Angiras and Dr. Rajendra Ranjan Chaturvedi deal with the beauty and the divine nature of sakta upasana in general, and Srividya upasana, in particular.

In entire Indian spritual practice, Guru occupies a pivotal place. The position of guru has been reflected in medival literature also, particularly in medival Hindi literature. Dr. Shyam Sunder Shukla has described elaborately the views of the medieval saints available in their works of poetry.

Thus, present issue offers some important material on different dimensions of Sakti sadhana. It is hoped that this material will be useful for the sadhakas.

विषय-सूची

शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं.
१. शक्तिपात-रहस्य	म०म० श्रीगोपीनाथ जी कविराज	०२
२. शक्तिपीठ-रहस्य	ब्रह्मलीन श्री स्वामी करपात्री जी महाराज	१९
३. त्रैपुरसिद्धान्तदिग्दर्शनम्	शिवसायुज्यङ्गताः श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथाः (सीतारामकविराजाः)	२७
४. आर्षकाव्य की सौन्दर्यसाधना एवम् श्रीविद्योपासना	प्रो० रमाकान्त आंगिरस	३४
५. उपासना की भावभूमि	डॉक्टर राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी, डी.लिट्	३७
६. तान्त्रिक पूजाओं में श्रेष्ठ-महापूजा	डॉ० श्रद्धा सिंह	४०
७. दश महाविद्या एवं स्मार्ततन्त्र परम्परा	डॉ० किशोरनाथ झा	४९
८. सीस दिये जौं गुरु मिलै तो भी सस्ता जान	डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल	९७

शक्तिपात-रहस्य

(म०म० श्रीगोपीनाथ जी कविराज)

आत्मा की स्वरूपावस्थिति अथवा मोक्षप्राप्ति ही मानव जीवन का स्वाभाविक उद्देश्य है। धारणाशक्ति के अभाव से साधारण लोग भले ही यह बात स्वीकार न करें परन्तु इसकी सत्यता के विषय में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है। यथासमय सभी को यह बात हृदयङ्गम हो जाती है। जबतक मनुष्य अपने स्वरूप में स्थिति प्राप्त न करेगा अथवा कम से कम स्थितिलाभ के सच्चे मार्ग में पदार्पण नहीं करेगा तबतक उसको अपने शुभाशुभ कर्मो के अधीन होकर उनके सुख-दु:खरूप फल भोगने के लिये तदनुरूप विभिन्न देह ग्रहण करते हुए ऊर्ध्वलोक से अधोलोकपर्यन्त विभिन्न स्थानों में निरन्तर भटकना पड़ेगा तथा बाध्य होकर जन्म–मरण के चक्र में नियमत: आवर्तन करना पड़ेगा। यही संसार है। बिना स्वरूप में स्थित हुए इससे मुक्तिलाभ की कोई सम्भावना नहीं है।

तो क्या स्वरूपस्थिति का कोई उपाय नहीं है? है, अवश्य है और जीव उसे प्राप्त भी कर सकते हैं। जिस समय जीव उस उपाय को प्राप्त कर लेते हैं उस समय उसके तारतम्य के अनुसार शीघ्र अथवा विलम्ब से अक्रम अथवा सक्रम भाव से संसार से मुक्त होकर अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। आत्मा का यह पूर्ण स्वरूप ही भगवत्तत्त्व या पूर्णब्रह्मभाव है।

तान्त्रिक आचार्यों की परिभाषा में इस उपाय को 'शक्तिपात' कहा जाता है। भगवदनुग्रह या कृपा भी इसीका नामान्तर है। इसको छोड़कर शुद्ध पौरुष–प्रयत्न से भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुत: भगवन्मुखी वृत्ति के मूल में सर्वत्र भगवत्कृपा माननी ही पड़ती है, क्योंकि बिना उनकी कृपा के उनकी ओर चित्त की गति हो ही नहीं सकती।

शक्तिपात अथवा कृपा के विषय में शास्त्र में बहुत जगह अनेक प्रकार से आलोचना की गयी है। खीष्टीय, नॉष्टिक, सूफी प्रभृति विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी इस विषय का बहुत विवरण देख पड़ता है। स्थानाभाव के कारण हम प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से ही इस विषय में संक्षेप से आलोचना करना चाहते हैं।

शक्तिपात अथवा अनुग्रह कब और क्यों होता है, इसका उत्तर दृष्टिभेद से अनेक प्रकार से दिया जाता है।

किन्हीं–किन्हीं का मत है कि शक्तिपात ज्ञान के उदय से होता है। अज्ञान से संसार का उद्भव

होता है और ज्ञानोदय से अज्ञान की निवृत्ति होकर शक्तिपात होता है। ज्ञानरूप अग्नि सब प्रकार के कर्मों को भस्म करके शक्तिपात की भूमि तैयार करता है। ये लोग कहते हैं कि कर्मफल का भोग चाहे क्रम से हो चाहे क्रमहीन भाव से, उसके द्वारा कर्म की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो नहीं सकती। क्रमिक भोग स्वीकार करने पर कर्मान्तर का प्रसङ्ग अनिवार्य हो जाता है। अत: निरन्तर नूतन कर्म उत्पन्न होते रहने के कारण किसी भी समय समस्त कर्मों के क्षय की सम्भावना नहीं हो सकती। और उस सन्देह की निवृत्ति कर्मफलभोग को क्रमिक न मानकर युगपत् (एक साथ) मानने पर भी नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार तो कर्मफल का भोग होना ही सम्भव नहीं है। क्रमशः फल देना– यही कर्मों का स्वभाव है। एक ही समय समस्त कर्मों का फलभोग स्वीकार करने पर तो कर्म का स्वभाव ही नष्ट हो जाता है। परन्तु स्वभाव का नाश होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये किसी भी प्रकार से भोग के द्वारा कर्म का क्षय होना उपपन्न नहीं होता। इसीसें ज्ञानवादी आचार्यों के मत में ज्ञानही को कर्मक्षय के कारणरूप से ग्रहण करके उसी के साथ शक्तिपात का कार्य–कारणसम्बन्ध माना जाता है।

परन्तु यह ज्ञान या सम्यग्ज्ञान किस प्रकार के आविर्भूत होता है– इसका ठीक–ठीक प्रकार से समाधान नहीं होता। यदि कर्म को ज्ञान का कारण माना जाता है, तो ज्ञान को कर्म का फल मानना पड़ता है। इस अवस्था में ज्ञान और कर्मफल समानार्थक हो जाते हैं और ज्ञानी को भी कर्मफलभोगी रूप से स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। अतएव ज्ञानोदय से शक्तिपात स्वीकार करने पर प्रकारान्तर से भोगी में ही शक्तिपात मानना पड़ता है। इसमें अतिप्रसङ्ग दोष आता है। कोई कोई कहते हैं कि कर्म का फल होने पर भी ईश्वर की इच्छा से ज्ञान में कुछ विशेषता है। स्वर्गादि कर्मफल कर्मान्तर को दग्ध नहीं कर सकते, किन्तु ज्ञान स्वयं कर्मफलात्मक होने पर भी कर्मान्तर को दग्ध कर देता है। यही इसकी विशेषता है। इस मत के अनुसार ज्ञानोदय में अन्योन्याश्रय और व्यर्थता दोष का तथा ईश्वर में रागादिकी प्राप्ति का प्रसङ्ग आता है।

किसी–किसी आचार्य का ऐसा मत है कि शक्तिपात का वास्तविक कारण ज्ञान नहीं है, अपितु कर्मसाम्य है। दो समान बलवाले विरुद्ध कर्मों के पारस्परिक प्रतिबन्ध से कर्म का साम्य होता है और इस साम्य से ही शक्तिपात होता है। क्रमिक भोग के प्रभाव से बहुत से कर्म क्षीण हो जाने पर किसी अनिश्चित समय में यदि हो परिपक्व और समानबलविशिष्ट विरुद्ध कर्म फल के विषय में रुद्ध हो जायँ अर्थात् अपना अपना फल प्रदान न करें– नियत भोगविधान न करें, और उसके पीछे होने वाले सब कर्म अपरिपक्व होने के कारण भोगोन्मुख न हों तो इस प्रकार से विरुद्ध कर्मों का साम्यभाव हो जाता है।

इस मत के विषय में कहना यह है कि यदि कर्म को क्रमिक माना जाय तो उसके फलदान को भी क्रमिक ही मानना होगा। ऐसी अवस्था में किन्हीं भी दो कर्मों के पारस्परिक विरोध की सम्भावना ही कहाँ है? एक कर्म के स्वरूप में हीं दूसरे कर्म की स्थिति तो रह नहीं सकती। इसलिये किन्हीं भी विभिन्न कर्मों का एक साथ रहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार इस आलोचना से स्पष्ट मालूम होता है कि कर्म सर्वथा ही क्रम के अधीन हैं। दो कर्मों के पारस्परिक विरोध से यही समझना चाहिये कि वे दोनों एक दूसरे के फल को रोकते हैं, जिससे किसी क्षण में उनकी युगपत् प्रवृत्ति का उदय नहीं होता। एब बात और भी है, विरोध स्वीकार करते हुए साथ–साथ यह भी मानना पड़ता है कि उस समय एक दूसरा अविरुद्ध कर्म भोगात्मक फल दान करता रहता है। यदि उस अवस्था में किसी भी अविरुद्ध कर्म की प्रवृत्ति स्वीकार न करें तो उसी क्षण देहपात हो जाना चाहिये, क्योंकि यह भोगायतन देह एक क्षण बिना भोग के रह नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि जाति और आयु इन दो फलों को देने वाला कर्म प्रतिबद्ध नहीं होता, केवल भोगप्रद कर्म ही प्रतिबद्ध होता है तो यह प्रश्न होगा कि यदि जाति और आयुप्रद कर्म के रहते हुए भी शक्तिपात हो सकता है तो भोगप्रद कर्म रहने पर ही क्यों नहीं हो सकेगा।

तन्त्रशास्त्र के द्वैतमतावलम्बी आचार्यों यह मत है कि ज्ञान अथवा कर्मसाम्य शक्तिपातहेतु नहीं है, उसका कारण तो मलपाक ही है। ये लोग कहते हैं–

परस्परविरोधेन निवारितविपाकयो:।
कर्मणो: सन्निपाते न शैवी शक्ति: पतत्यसौ।।

दो विरुद्ध कर्मों में दोनों ही धर्मात्मक हो सकते हैं (जैसे स्वर्गप्रापक और ब्रह्मलोकप्रापक कर्म), दोनों ही अधर्मात्मक हो सकते हैं (जैसे अवीचिनरक–प्रापक और रौरवनरक–प्रापक कर्म) अथवा एक धर्म्य और एक अधर्म्य हो सकता है (जैसे अश्वमेध और ब्रह्महत्या)। ऐसे दो विरुद्ध कर्मों का सन्निपात होने पर भी शिवत्वदायिनी अनुग्रहात्मिका शक्ति का आत्मा में पात नहीं होगा। बिना मलपाक हुए शक्तिपात हो ही नहीं सकता। मतङ्गागम में लिखा है– 'मलपाक की अविनाभूत दीक्षा कर्मक्षय के द्वारा मोक्षप्राप्ति हेतु बनती है।' किरणागम में कहा है–

अनेकभविकं कर्म दग्धबीजमिवाग्निभि:।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगत:।।

मलपाक से अनुग्रह–शक्ति का पात होता है। शक्तिपात होते ही मल का आवरण हट जाता है और अपना विशुद्ध सर्वज्ञत्वादिमय स्वरूप प्रकाशित होता है अर्थात् शान्त और निर्मल आत्मा के स्वरूप का साक्षात्मकार हो जाता है। एक ही परमेश्वर जीव का बन्धन भी करते हैं और मोक्ष भी। जैसे एक ही सूर्य अपने सन्निध्य से द्रवीभूत हो जाने वाले मोम से द्रवता तथा सूख जाने वाली मृत्तिका में शुष्कता उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार एक ही परमेश्वर मोक्ष के अधिकारी पक्वमल जीव के लिये मोक्ष का प्रबन्ध करते हैं और बन्धन के योग्य अपक्वमल जीव के मलपाक के लिये उसके बन्धन की व्यवस्था करते हैं। मलपाक से उपकार तथा अपकाररूप दोनों प्रकार के कर्मों के विषय में साम्यबुद्धि होने पर मोक्ष होता है। सब प्रकार के कर्मसाम्य से केवल विज्ञानकैवल्य की ही प्राप्ति होती है, मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। यथार्थ कर्मसाम्य का कारण मल का पाक ही है। इससे ही दीक्षा के द्वारा मोक्षप्राप्ति हो सकती है। परमेश्वर नित्य, निर्मल, सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है, परन्तु पशु आत्मा मल, माया और कर्मरूप पाश से बँधा हुआ है। परमेश्वर कृपा करके उसके ये समस्त पाशात्मक बन्धन काटकर उसको अपने सदृश बना लेते हैं। इसी को शिवसाधर्म्य की अभिव्यक्ति कहते हैं, जिसका नामान्तर 'अनुग्रह' अथवा 'मोक्ष' भी है। परन्तु जबतक पशुओं के चैतन्य का उपरोध करने वाले अनादि मल का अधिकार निवृत्त नहीं होता, तबतक इस अनुग्रह की प्रवृत्ति ही नहीं होती। मृगेन्द्र आगम में लिखा है–

तमःशक्त्यधिकारस्य निवृत्ते तत्परिच्युतौ।
व्यनक्ति दृक्क्रियानन्त्यं जगद्बन्धुरणोः शिवः।।

तमःशक्ति रोधशक्ति या तिरोधान का नामान्तर है। जबतक इस शक्ति का अधिकार रहेगा, तबतक उद्धार का उपाय नहीं है। अनादि मल क्रम से धीरे–धीरे पक्व हो रहा है– परिणाम को प्राप्त हो रहा है। पूर्ण परिपक्वता होने पर उसकी निवृत्ति का समय उपस्थित होता है। नेत्र में जाली पड़ जाने पर अस्त्रक्रिया से उसे दूर करना पड़ता है। परन्तु जबतक वह पूरी पक नहीं जाती, तबतक अस्त्र प्रयोग नहीं किया जाता। अपक्व मल को खींचकर हटाने का प्रयत्न करने से जीव का सर्वनाश हो जायेगा। इसीलिये मङ्गलमय भगवान् इसप्रकार का बल प्रयोग नहीं करते। वे मल के परिपाक के लिये अवसर की प्रतीक्षा करते हैं और मल परिपक्व होने पर दीक्षा के द्वारा उसे हटाते हैं। यही उनका जीवोद्धारका क्रम है। इस मत में मल द्रव्यात्मक है और क्रिया से ही उसकी निवृत्ति मानी जाती है। अवश्य यह क्रिया जीव का कर्म नहीं है, ईश्वर का व्यापार है, जिसका शास्त्रीय नाम दीक्षा है। परन्तु

जबतक मल का परिपाक नहीं होता तबतक इस व्यापार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मलपाक के लिये ही भगवान् जीव को अलक्षित भाव से अनादि कर्मभोगात्मक संसार में डालते हैं। यही उनका तिरोधान अथवा रोधनामक कृत्य है। वस्तुत: सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों तिरोधान के ही प्रकार भेद हैं तीनों में तिरोधान अनुस्यूत है। मल के समान माया तथा कर्म का पाक भी आवश्यक है। मायाशक्तियों को अभिव्यक्ति के योग्य करना ही माया का उद्देश्य है। इसी प्रकार कर्म भी पक्व होने पर ही अपना फल देने में समर्थ होते हैं, अपक्व कर्म फलदान नहीं कर सकता। सब पाशों के पाक या परिणाम का मुख्य कारण परमेश्वर का सामर्थ्य या स्वातन्त्र्य है। अनेक जन्मों की वासना तथा पुण्यपुञ्ज के प्रभाव से किसी भी समय में अथवा किसी भी आश्रम में स्थित रहने के समय अचिन्त्य भाग्योदय से किसी आत्मा की चैतन्य शक्ति के अनादि आवरणभूत मल का किञ्चित् पाक होने पर तदनुरूप शक्तिपात होता है। यही कृपा है। इ की मात्रा के अनुसार परमेश्वर के प्रति भक्ति-श्रद्धादि का उदय होता है। उस समय उस शक्तिपात के अनुरूप दीक्षा का अवसर आता है। शक्तिपात के तारतम्य के अनुसार दीक्षा का भी भेद होता है। इस मत में शक्तिपात के तारतम्य का मूल मलपाक की विभिन्नता ही है।

यह कहना निष्प्रयोजन है कि इस मलपाक के सिद्धान्त से भी अनुग्रह–तत्त्व का चरम रहस्य नहीं खुलता। भेदवादी आचार्यगण मल का नाश नहीं मानते, क्योंकि मल एक होने के कारण यदि उसका नाश स्वीकार किया जाय तो एक आत्मा के मलहीन होने के साथ सभी आत्माओं के मलहीन होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इससे एकको मुक्ति से सबकी मुक्ति हो जाएगी। इसलिये ये लोग कहते है कि मल का पाक पाक ही होता है, नाश नहीं होता। 'पाक' शब्द से इस मत में मल की अपनी शक्ति का प्रतिबद्धभाव समझना चाहिये। परन्तु बात यह है कि इस प्रकार से विचार करने पर भी पूर्वोक्त दोष निवृत्त नहीं होता। विष अथवा अग्नि की अपनी शक्ति स्तम्भित होने पर जैसे वह सबके लिये समान होता है उसी प्रकार यदि मल का पाक ही माना जाय तक भी मल वस्तुत: अभिन्न होने के कारण यह पाक भी सबके लिये समान ही मानना पड़ेगा। एक बात और है, पाक का हेतु क्या है यह भी विचारणीय है। कर्म अथवा ईश्वर की इच्छा इनमें से किसी को भी मलपाक का हेतु मानना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि कर्म केवल भोग के ही कारणता होते हैं और किसी भी कार्य की कारणता कर्म में नहीं मानी जा सकती। ईश्वर की कार्य की कारणा कर्म में नहीं मानी जा सकती। ईश्वर की

इच्छा को भी कारणरूप में ग्रहण करने से समाधान नहीं होता, क्योंकि यह इच्छा स्वतन्त्र है या परतन्त्र इसकी मीमांसा करना भी आवश्यक है। परतन्त्र कहने से मानना पड़ेगा कि उसे कर्मादि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा है। तब तो पूर्वोक्त दोष रह ही जाता है। और यदि ईश्वरेच्छा को स्वतन्त्र माना जाय तो इस स्वतन्त्र इच्छा का फलस्वरूप मलपाक सब के लिये समान ही होना चाहिये। ईश्वर में राग--द्वेष नहीं है। तब उनकी इच्छा से किसी का मल पाक होता है, किसी का नहीं होता अथवा किसी का शीघ्र हूता है, किसी का देर से होता है– यह वैषम्य क्यों होगा? वैषम्य तथा पक्षपातदोष ईश्वर में नहीं हो सकता। स्मरण रखना चाहिये कि यह आलोचना द्वैतदृष्टि से की जा रही है। इस प्रकार से प्रतीत होता है कि मलपाक का कोई हेतु नहीं है। परन्तु इसे अहैतुक भी नहीं माना जा सकता। कारण के बिना कार्य की सिद्धि मानने पर इस संशय का समाधान नहीं होगा कि इतने दिनों तक मलपाक क्यों नहीं हुआ? वस्तुत: अहेतुपक्ष में मल की स्थिति ही नहीं हो सकती। अतएव शक्तिपात के विषय में मलपाकवाद को ही चरम सिद्धान्तरूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

पूर्वनिर्दिष्ट कारणों से कर्मसाम्यादि किसी भी मत को समीचीन नहीं माना जा सकता। अद्वयदृष्टि ही चरम दृष्टि है। इस दृष्टि में परमेश्वर अद्वय तथा स्वातन्त्र्मय है। इस मत के अनुसार शक्तिपात का जो विवरण शास्त्र में देखा जाता है, आचार्यों का वही चरम सिद्धान्त है। नीचे इस विषय में कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

परमेश्वर स्वभावत: नियतिक्रम तथा अनियतिक्रम दोनों ही को स्पर्श करते हुए प्रकाशमान होते हैं। इसीलिये शास्त्र में उनको स्वच्छन्द कहा है। उनका स्वकीय भाव अथवा इच्छा ही 'स्वभाव' पदवाच्य है। जब वे कर्म और फल के पारस्परिक सम्बन्धविषयक नियम का आश्रय करके अवान्तर स्थिति में सृष्टिसंरक्षण तथा संहारव्यापार करते हैं तब वे नियतिक्रम अर्थात् नियम या कार्य–कारणभाव का आश्रय करते हैं– ऐसा कहा जाता है। अर्थात् ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्ड की सृष्टि वे कर्म और फल का नियम अवलम्बन करते हैं। परन्तु शाक्त महासर्ग में अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में वे सर्वथा निरपेक्ष और पूर्णरूप से स्वतन्त्र रहते हैं– उसमें कर्मफलादि किसी भी नियम के अधीन होकर वे अपने को प्रकाशित नहीं करते है। यही परमेश्वर का अनियतिक्रम प्रकाश है। महासर्ग में सृष्टि और संहार अनन्त हैं। शक्तिपर्यन्त अध्वा की अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में जगत् समूह का असंख्य सृष्टि संहार अन्तर्भूत है। यही शाक्ती महासृष्टि है। यह प्राक्तन कर्मों के फलस्वरूप में प्रादुर्भूत नहीं

होती। इसी से इसमें कर्म की अपेक्षा से नियतिका परिग्रह आवश्यक नही होता। माया के बाहर कर्म नहीं रह सकता– यह कहना तो निष्प्रयोजन ही हैं अवश्य अवान्तर सृष्टि में भी अर्थात् ब्रह्माण्डादि के भीतर भी परमेश्वर नियति के अधीन नहीं है, वे स्वतन्त्र हैं। उनका नियतित्याग और नियतिग्रहण इस प्रकार से होता है– जब वे नियति के द्वारा अर्थात् अपने स्वरूप का आच्छादन करते हुए भोक्ता के रूप में दु:ख मोहादि भोग करते हैं तब कर्मफलक्रम अर्थात् नियति का ग्रहण होता है, और जिस समय वे अनपेक्ष होने के कारण कर्मनियम को छोड़ते हुए तिरोधान में दु:ख मोह का सम्बन्ध अवभासित करने की इच्छा करते हैं, तब वे स्वतन्त्र और नियतित्यागी हें। अभी जो तिरोधान का विषय कहा गया है, यह एक प्रकार से उनका स्वेच्छाकृत आत्मगोपन है, जैसा कि रङ्गमञ्च में अभिनय के समय कुशल नट करते हैं। तिरोधान के कारण प्राक्तन कर्मादि नहीं हो सकते। कर्म से जाति, आयु और भोगरूप फल उत्पन्न होता है, तिरोधान का आविर्भाव नहीं होता। परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही इसका एकमात्र कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि हम यह आलोचना अद्वैतदृष्टि से कर रहे हैं। द्वैतसम्मत स्वतन्त्र ईश्वरेच्छा में जो दोष होता है इसमें उसका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि इस मत में मूल तत्त्व अद्वैत होने के कारण राग द्वेषादि का प्रसङ्ग ही नहीं उठता। अतएव कर्मादि निरपेक्षभाव से केवल भगवान् की इच्छा से ही अनुग्रह होता है– यही वास्तविक सिद्धान्त है। अर्थात् शक्तिपात कर्मसाम्य एवं मलपाक आदि के अधीन नहीं है, किन्तु निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र है। पुराणादि में भी ऐसी ही बात मिलती है– 'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।' महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेव ने भगवान् की स्तुति के प्रसङ्ग में कहा है–

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यत: स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे।।

'हे भगवान्, तुम शक्तिपात के समय अर्थात् जीवपर कृपा करने के समय न्यायत: प्राप्त होने पर भी कभी पात्र–अपात्र का विचार नहीं करते। तब आज मेरे में ऐसी क्या नयी बात आ गयी है, जो मेरे प्रति आत्मप्रकाशन में विलम्ब कर रहे हो?'

शक्तिपात में मायान्तर्गत कर्मादि का व्यापार नहीं है– इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि कर्मादि जीव को माया के भीतर आबद्ध रखते हैं। जिसके कारण माया से उद्धार नहीं हो पाता। शक्तिपात सर्वथा मायानिरपेक्ष है। अतएव जितने देवता माया के भीतर माया से ऊपर रहते हैं, वे अपने अपने अधिकार की समाप्ति होने पर अकस्मात् अर्थात् कर्मादिनिरपेक्ष भगवदनुग्रह से ही भगवद्भाव प्राप्त कर

लेते हैं। जो लोग माया से आक्रान्त नहीं हैं, वे कर्मादि के अधीन नहीं होते। केवलमात्र शक्तिपात के प्रभाव से ही उनको भोग अथवा मोक्षरूपा सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ किसी–किसी के मन में ऐसी शंका हो सकती है कि ये सब शुद्धात्मा जब पूजा–ध्यान, देवाराधन प्रभृति के प्रभाव से मायातीत शुद्ध अवस्था (मन्त्रत्व, मन्त्रेश्वरत्व इत्यादि) प्राप्त करते हैं, तब कहना पड़ेगा कि यह भी एक प्रकार से कर्म का ही फल है। परन्तु वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मादि सारे उपाय माया के ही अन्तर्गत हैं और ईश्वरभाव माया से परे है। अतएव मायातीत वस्तु के ध्यान जप आदि विषयों में सर्वप्रथम प्रवृत्ति होना माया के भीतर डूबे हुए आत्मा के लिये किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कर्म, कर्मसाम्य, वैराग्य, मलपाक आदि कोई भी मायिक व्यापार इसका कारण नहीं हो सकता। इसलिये स्वतन्त्र व्यापार इसका कारण नही हो सकता। इसलिये स्वतन्त्र ईश्वर की इच्छा को ही कारण मानना पड़ता है। निरपेक्ष शक्तिपातवादियों का यही सिद्धान्त है। जप ध्यान प्रभृति कर्म नहीं है। अपितु क्रिया हैं। 'कर्म' शब्द से ऐसे पदार्थ का बोध होता है, जो परिमित भोग उत्पन्न करते हुए भोक्ता के पूर्ण रूप अर्थात् अपरिच्छिन्न चित्स्वरूप को तिरोहित कर लेता है, अर्थात् उसे विभिन्नरूप से संकुचित करके आच्छादित कर लेता है। सिद्धान्त दृष्टि से जप ध्यानादि परमेश्वर की स्वरूप-विकासिका क्रियाशक्ति हैं, स्वरूप का आवरण करने वाला कर्म नहीं है।

एक ही चिद्रूप परनेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से तत्तत् प्रमाता प्रमेय आदि विभिन्न और नाना आकारों में प्रकाशमान होते हैं। इसीलिये एकत्व रहने पर भी अनैक्य का अभाव होने के कारण उनके अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से स्वरूप का गोपन होता है। यही तिरोभाव अथवा बन्धन है। अतएव वस्तुतः बन्धन का स्वरूप भी परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वे बन्धभोग के द्वारा भोक्तृत्व को पुष्ट करके संकोच का अवभासन करते हुए जाति, आयु तथा भोगप्रद रूप में विकल्पित स्वयं कल्पित कर्मों के द्वारा आत्मा को बाँधते हैं। तदनन्तर वे बन्धन–मोचन के क्रम से अपने आगन्तुकरूप मल एवं कर्मादि हो हटाकर अपने विशुद्ध रूप में प्रकाशित होते हैं। उस समय पूर्ण ज्ञान क्रियाशक्तिसम्पन्न केवल स्वतन्त्र परमेश्वर ही अवशिष्ट रहते हैं।

पर तथा अपर भेद से शक्तिपात प्रधानतया दो प्रकार का है। पर–शक्तिपात परिच्छिन्न आत्मा का पूर्ण चिदात्मरूप में प्रकाशित होना है– यही उसका परम प्रकाश है। उपाधिहीन अनवच्छिन्न चैतन्य ही उसका स्वरूप है। परन्तु अपर शक्तिपात में पूर्ण चिदात्मा का प्रकाश पूर्ववत् रहने पर भी अवच्छेद का सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि इस प्रकाश में भोगांश तथा अधिकांश से कुछ

अवच्छेद भी निवृत्त हो जाता है। प्रचलित भाषा में पर तथा अपर शक्तिपात को पूर्ण तथा अपूर्ण कृपा भी कह सकते हैं।

पूर्ण कृपा परमेश्वर को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता। अपूर्ण कृपा ब्रह्मादिविशिष्ट देवगण भी कर सकते हैं और करते भी हैं। उसके प्रभाव से कृपाप्राप्त जीव ब्रह्मादि के अधिकारान्तर्गत नाना प्रकार के भोग और अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पूर्णत्व अथवा परमेश्वरत्व प्राप्त नहीं कर सकते। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मादि भी परेश्वरस्वरूप ही हैं, तथापि स्वयं उल्लसित भेदसम्बन्ध के कारण वह रूप मायापद के अन्तर्गत है, इसीलिये साक्षात् परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मादि देवों की कृपा निकृष्ट समझी जाती है, परन्तु यह बात सत्य है कि मायान्तर्गत होने पर भी ब्रह्मादि देवगण भोगादिमय निकृष्ट अनुग्रह करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार स्वातन्त्र्य से अर्थात् ऐसी शक्ति के समावेश से राजालोग किसी किसी पर अनुग्रह किया करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मादि देवगण भी करते हैं।

माया के गर्भ में जितने भी अधिकारी पुरुष है उनका अनुग्रह मन्द और तीव्र भेद से दो प्रकार का होता है। मन्द अनुग्रह का फल प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान की उत्पत्ति है। इसके प्रभाव से जीव प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होते हैं, परन्तु प्रकृति के ऊर्ध्व स्तर के कर्म जो कलादि तत्त्वों को आश्रय करके रहते हैं तब भी क्षीण नहीं होते। प्रकृति के नीचे की भूमि के सम्पूर्ण कर्मो का क्षय अवश्य हो जाता है। इस प्रकार विवेकज्ञानी में तीनों मल वर्तमान रहते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि ये लोग प्रकृति गर्भ में फिर भी जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। अनन्तेश नामक ईश्वर की प्रेरणा से अप्राकृत मायिक जगत् में कदाचित् इनका जन्म हो भी सकता है। यदि यह अनुग्रह तीव्र मात्रा हो तो उसके साथ ही साथ कला और पुरुष का विवेकज्ञान आविर्भूत होता है। इसके कुछ ही पीछे पुरुष माया से अपनी सत्ता पृथक् जानकर माया के राज्य का अतिक्रमण करता है। कलालङ्घन से ही समस्त कर्मो का क्षय हो जाता है, इसलिये ऐसे पुरुष का माया से पार होना सम्भव होता है। साधन राज्य में यहाँ तक पहुँचने पर माया के गर्भ में फिर कभी उतरना नहीं पड़ता। यह विज्ञानाकल अवस्था है। यह एक प्रकार की कैवल्यावस्था ही है। इस समय आणव मल अवशिष्ट रहने के कारण अधिकार की निवृत्ति नहीं होती। इन सब पुरुषों के ऊपर माया के अधिष्ठाता ईश्वर का कोई अधिकार नहीं है। ये विज्ञानाकल पुरुष परमेश्वर की इच्छा से परमेश्वर के साथ अधिकाधिक तादात्म्य अनुभव करते हुए क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर पद प्राप्त करके अन्त में साक्षात् परमेश्वरभाव ही प्राप्त करते हैं। परमेश्वर अथवा पूर्ण ब्रह्म की कृपा से अज्ञानात्मक आणव–मल निवृत्त होता है और पूर्णत्व की

अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्मादि मायान्तर्गत अधिकारी पुरुषों की कृपा से पूर्णत्व लाभ नहीं हो सकता, केवल उत्कृष्ट भोगादि की ही प्राप्ति हो सकती है, इसलिये मुमुक्षुमण्डल में साक्षात् भगवान् की कृपा से ही कृपा नाम से कहा जाता है, निम्नाधिकारियों की कृपा को कृपा के भीतर नहीं गिना जाता।

शक्तिपात में वैचित्र्य रहने से तन्मूलक अधिकार में भी वैचित्र्य रहता है। समयी, पुत्रक, तथा आचार्य या गुरु ये सब अधिकारभेद विभिन्न शक्तिपात से ही उत्पन्न होते हैं। ये सब अधिकार समष्टिरूप में भी आविर्भूत हो सकते हैं तथा व्यष्टिरूप में पृथक् पृथक् भाव से भी हो सकते हैं। ये किसी के तो क्रम से होते हैं, अर्थात् पहले समयी का अधिकार पाकर तदनन्तर पुत्रक भाव की प्राप्ति और अन्त में आचार्य भाव में स्थिति। परन्तु किसी–किसी के जीवन में ये बिना क्रम से भी होते देखे जाते हैं। जैसे कोई पुरुष समयी अवस्था को प्राप्त हुए बिना ही पुस्तक अवस्था लाभ कर लेते हैं अथवा समयी एवं पुत्रक दोनों अवस्थाओं को लङ्घन करके आचार्यपद में पहुँच जाते हैं। शक्तिपात की मात्रा मन्द होने से जीव मायाधिकार को प्राप्त होकर रुद्र बन जाते हैं। उसके बाद परमेश्वर की विशिष्ट कृपा से क्रमशः पुत्रक दीक्षा के बाद पूर्णत्व लाभ करते हैं। इनका शास्त्रीय नाम 'समयी' है। अपेक्षाकृत तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से कोई–कोई जीव विशुद्ध अध्वा से युक्त होकर देहपात के अनन्तर पूर्णत्व लाभ करते हैं। अथवा क्रमलङ्घन करते हुए जीवित काल में ही पूर्णत्व लाभ कर लेते हैं। इन पुरुषों का पारिभाषिक नाम 'पुत्रक' है। कोई–कोई पहले भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उससे विरक्त होकर परमपद में स्थिति लाभ करते हैं। इनमें भी योग्यता के अनुसार कोई शीघ्र और कोई विलम्ब से लक्ष्य प्राप्त करते हैं। इन्हें साधकं कहते हैं। परन्तु कोई ऐसे भी पुरुष होते हैं जो अपना कर्तव्य समाप्त करके पञ्चकृत्यकारी परमेश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। तथा गुरु अथवा आचार्य पद में आरोहण करके जीवों पर अनुग्रह करते हैं। इनमें भी शिष्यों की विभिन्न योग्यताओं के अनुसार भेद अवश्य रहता है। अर्थात् कोई शिष्य के भोग का विधान करते है और कोई मोक्ष का। परन्तु उनका अपना कोई भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता।

शक्तिपात तीव्र, मध्य तथा मन्द भेद से प्रधानतया तीन प्रकार का होता है। इनमें से प्रत्येक के फिर तीव्रादि अवान्तर तीन–तीन भेद है। इस प्रकार के विभिन्न मात्राओं के शक्तिपातों के फल में भी भेद रहता है। तीव्र–तीव्र, मध्यतीव्र तथा मन्दतीव्र– ये तीन प्रकार तीव्र शक्तिपात के हैं। तीव्र–तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से स्वयं ही देह छूटकर मोक्ष प्राप्त होता है। भोग के द्वारा प्रारब्धक्षय की अपेक्षा नहीं रहती। यह शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होने के कारण प्ररब्धकर्म का भी नाश कर देता

है। परन्तु इसमें भी तारतम्य रहता है। इसमें जो अत्यन्त तीव्र होता है उसके प्रभाव से उसी क्षण देह का नाश हो जाता है। जिस प्रकार विद्युत्पात से देह नष्ट होने में देर नहीं लगती वैसा ही इससे होता है। परन्तु जो शक्तिपात मध्यम कक्षा का तीव्र–तीव्र होता है उससे कुछ देर में तथा मन्द तीव्र–तीव्र द्वारा अधिक विलम्ब से स्वयं ही देहपात होता है। इस सभी प्रसङ्गों में शक्तिपात की तीव्रता के भेद से पूर्णतया तथा न्यूनाधिक रूप में प्रारब्धता नाश हो जाता है। मध्यतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से देह का नाश नहीं होता, केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है। परन्तु इस अज्ञान निवृत्ति के लिये जिस ज्ञान की अपेक्षा है, उसका लाभ पृथक् रूप से गुरु अथवा शास्त्र द्वारा नहीं होता। वह स्वयं ही हृदय में स्फुरित होता है। अपनी प्रतिभा से स्फुरित होने के कारण इस अनौपदेशिक महाज्ञान को 'प्रातिभ ज्ञान' कहा जाता है, जिसका उदय होने के लिये शास्त्र एवं आचार्य की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रसङ्गतः यहाँ प्रातिभ ज्ञान का कुछ परिचय देन उचित प्रतीत होता है। इस ज्ञान का आविर्भाव मध्यतीव्र शक्तिपात के फलस्वरूप में होता है– यह पहले कहा जा चुका है। सत्तर्क अथवा शुद्ध विद्या ही इस ज्ञान का स्वरूप है। वस्तुतः यह परमेश्वर की इच्छा के सिवा और कुछ नहीं है।

जिन साधकों का चित्त असद्गुरू में अर्थात् सत्त्वोपदेष्टा आचार्य में अनुरक्त है वे मायापाश से बँधे हुए हैं। वे परमेश्वर की वामाशक्ति के अधीन रहते हैं। उन्हें जो मुक्ति प्राप्त होती है वह प्रलयाकल नाम की पशु की अवस्था में किसी प्रकार उत्कृष्ट नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वामाशक्ति भी परमेश्वर की ही एक शक्तिविशेष है। परन्तु शक्तिपात की न्यूनता के कारण असद्गुरू में अथवा द्वैतशास्त्रादि में ही जीव की पहले प्रवृत्ति होती है। तदनन्तर महेश्वर की ज्येष्ठाशक्तिरूपा मङ्गलमयी इच्छा से अर्थात् शुद्धा भगवच्छक्ति के समावेश के कारण जीव के हृदय में स्वस्वरूपप्राप्ति की इच्छा अर्थात् सत्तर्क जागने पर क्रमशः सद्गुरु का आश्रय मिलता है। उस समय अपनी योग्यता के अनुसार भोग तथा मोक्ष प्राप्त होता है। शक्तिपात की विचित्रता से ही गुरु तथा शास्त्र में सत् तथा असद्भाव का वैचित्य उत्पन्न होता है। द्वैतशास्त्र तथा द्वैतगुरु परमेश्वर की वामाशक्ति के द्वारा अधिष्ठित हैं, इसलिये उनके द्वारा माया का लङ्घन होना असम्भव है। वस्तुतः जो अवस्था मोक्षपद वाच्य नहीं है, उसको मोक्ष समझकर प्राप्त करने के लिये चेष्टा करना माया का ही कार्य है। परन्तु जबतक जीव के हृदय में सत्तर्करूप शुद्ध ज्ञान का उदय नहीं होता, तबतक सार और असार का ठीक–ठीक विवेचन हो नहीं सकता। सत्तर्क का उदय तथा ज्येष्ठाशक्ति का अधिष्ठान न होने से न तो अन्तःकरण ही सर्वथा पवित्र होता है और न शुद्ध मार्ग का ही आश्रय मिलता है।

परन्तु यह सत्तर्करूप ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है– यह जानना चाहिये। किरणागम नामक तन्त्रग्रन्थ में स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है कि यह ज्ञान गुरु एवं शास्त्र को अवलम्बन करने पर उदित हो सकता है तथा कदाचित् स्वयं भी उद्भूत हो सकता है, जिसमें कि न तो गुरु के उपदेश की और न शास्त्राध्ययन की ही आवश्कता रहती है। यह सांसिद्धिक और स्वप्रत्यात्मक निश्चित ज्ञान है। सांसिद्धिक अथवा स्वाभाविक शब्द से कोई ऐसा न समझे कि इसका कोई देह ही नहीं है, क्योंकि इसके उदय में गुरु शास्त्रादि लौकिक हेतु न रहने पर भी भगवान् का शक्तिपात रूप हेतु तो अवश्य ही रहता है।

ज्ञानोदय के जिन तीन कारणों का वर्णन किया गया है उनमें गुरु की अपेक्षा शास्त्र की श्रेष्ठता है, क्योंकि गुरु से शास्त्र का अर्थज्ञान होता है, इसलिये गुरु को उपाय और शास्त्र को उपेय माना जाता है। इसी प्रकार शास्त्र से भी अपनी प्रतिभा की श्रेष्ठता है, क्योंकि शास्त्रज्ञान में भी अन्त में प्रतिभा ज्ञान उत्पादन करके ही सफल होता है। प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाने पर गुरु अथवा शास्त्र का कोई उपयोग नहीं रह जाता।

परन्तु उत्कृष्ट योग्यताविशिष्ट पुरुष का प्रातिभ ज्ञान गुरु तथा शास्त्रक्रम का लङ्घन करके स्वतः ही उत्पन्न होता है। उसके लिये दीक्षा–अभिषेक प्रभृति बाह्य संस्कारों का प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि आदिगुरु परमेश्वर को तत्तत्क्षेत्र में अधिष्ठित करना ही संस्कार का यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु प्रतिभावान् पुरुष में यह अधिष्ठान स्वतःसिद्ध है। इसलिये उसके लिये संस्कार निष्फल है। शक्तिपात का मुख्य लक्षण भवगद्भक्ति का उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुष में अवश्य ही रहता है। इसीलिये उसके अपनी संवित् देवियों के द्वारा दीक्षा तथा अभिषेकव्यापार भी स्वयं ही हो जाते हैं– उसे क्रिया एवं दीक्षादि का प्रयोजन नहीं रहता। प्रातिभ ज्ञान उदित होने पर अपनी इन्द्रियवृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करती हैं और देवीभाव को प्राप्त हो जाती है। ये सब शक्तिभूत देवीभावापन्न इन्द्रियवृत्तियाँ पुरुष की ज्ञानक्रिया अथवा चैतन्य को उत्तेजित करती है। यही अन्तर्दीक्षा है, जिसके प्रभाव से साधक सर्वत्र स्वातन्त्र्य लाभ कर लेता है। पारमार्थिक दृष्टि से अभिषेक का यही रहस्य है। ऐसा साधक अन्यान्य गुरुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सामान्यतः गुरु से शास्त्रज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु प्रतिभावान् पुरुष लौकिक निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए केवल प्रतिभा से ही सब शास्त्रों का ठीक–ठीक रहस्य जान सकते हैं। इसीलिये इसका नाम शुद्ध विद्यासमुल्लास अथवा प्रातिभ महाज्ञान है।

पहले कहा गया है कि यह ज्ञान और किसी को (अर्थात् अपने बोध अथवा शास्त्रों को) उपजीव्यरूप में आश्रय करके उदित हो सकता है अथवा न करके अपने आप भी हो सकता है। इस उपजीव्य आश्रय का नाम 'भित्ति' है। इसीसे इस ज्ञान को सामान्यरूप से सभित्तिक और निर्भित्तिक भी कहा जाता है। स्वतः उदित ज्ञान निर्भित्तिक है। सभित्तिक ज्ञान अंशगामी और सर्वगामी भेद से दो प्रकार का हो सकता है। मुख्यांश तथा अमुख्यांश भेद से अंशभेद का विचार करने से अंशगामी ज्ञान को भी दो प्रकार का मानना पड़ता है। असली बात यह है कि अनुग्रहपात्र शिष्य की योग्यता के तारतम्य से ही वस्तुतः ज्ञान की सभित्तिकता और निर्भित्तिकता स्वीकार करनी पड़ती है। स्वतः सत्तर्क के उदय से जिनके सब प्रकार के बन्धन खुल गये हैं और पूर्णत्व प्राप्त हो गया है वे ही सासिद्धिक गुरु हैं। वे अपने विषय में कृतकृत्य होने पर भी सर्वदा परानुग्रह के लिये ही प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु अनुग्रहपात्र जीव का चित्त निर्मल रहने पर तो इन्हें अनुग्रहकर्म में किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं रहती। ये केवल अपनी शुद्ध चिदात्मिका अनुसन्धानहीना दृष्टि के द्वारा ही ऐसे जीव में आत्मज्ञान का सञ्चार करके उसे अपने समान कर लेते हैं। यह अनुग्रह का ही फल है। इस प्रकार परानुग्रह में किसी और की अपेक्षा नहीं है। यह निर्भित्तिक है। परन्तु अनुग्रहपात्र यदि शुद्धचित्त न हो तो अनुग्रह व्यापार में उपकरण की आवश्यकता होती है। अनुग्रह के पहले गुरु में 'इसपर मैं इस प्रकार अनुग्रह करूँगा, ऐसा अनुसन्धान (सङ्कल्प) होता है और उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये इसमें सब प्रकार के बाह्य उपकरणों की आवश्कता रहती है तथा विधिमार्ग का आश्रय भी ग्रहण करना पड़ता है। गुरु के साक्षात् परमेश्वरस्वरूप होने पर भी इस क्षेत्र में उपायभूत शास्त्रादि के श्रवण–अध्ययन प्रभृतिका आदर किया जाता है। अशुद्ध जीव अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिये उनके चित्तगत संस्कारों के अनुसार उपकरण भी अनेक प्रकार के होते है। इसीलिये भिन्न–भिन्न उपकरणों के प्रतिपादक भिन्न–भिन्न शास्त्रों की भी आवश्कयता होती है। इन सबके बिना उनपर अनुग्रह नहीं किया जा सकता। रोग की भिन्नता के अनुसार जैसे ओषधियाँ भी भिन्न होती है।, वैसे ही चित्तभेद के अनुसार शास्त्रों का भी भेद रहता है। अर्थात् गुरु शिष्य की योग्यता देखकर उसके अधिकार के अनुसार उसपर अनुग्रह करते हैं। यही सर्वगामी सभित्तिक ज्ञान का माहात्म्य है। परन्तु कोई कोई निर्दिष्ट शास्त्रों के अनुसार तदुचित अनुग्रह–पात्रों पर अनुग्रह करते हैं। यह अंशगामी सभित्तिक ज्ञान का व्यापार है। परन्तु ये अंश भी असंख्य हैं। और उनमें परस्पर उत्कर्ष अपकर्ष भी रहता है। इनमें कोई अंश मुख्य है और कोई गौण हैं। अंशगामी ज्ञान का भेद इसी कारण से होता

है। स्मरण रखना चाहिये कि इन सब विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिभारूपी गुरु अथवा स्वाभाविक ज्ञान समरूप ही है, क्योंकि उसमें अपने विषय में कृतकृत्यता का अभाव नहीं है, केवल दूसरों के हित के लिये ही विभिन्न प्रकार की भित्तियों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवानुग्रह सोपकरण या सोपाय तथा निरुपकरण या निरुपाय भेद से दो प्रकार का है।

गुरु दीक्षा के द्वारा जिस प्रकार शिष्य को संसार–बन्धन से मुक्त करते हैं और सर्वज्ञत्वादि ऐश्वरिक धर्म प्रदान करते हैं, प्रातिभ ज्ञान से भी ठीक वैसा ही फल मिलता है। भेद इतना ही है कि दीक्षा पराधीन है और प्रातिभ अपना स्वभावभूत है। बात यह है कि जीव, ईश्वर, और शक्ति– ये तीन तत्त्व गुरु और आगम से तात्त्विकरूप से सिद्ध होने पर प्रातिभ ज्ञान के आकार में प्रकट होते हैं। गुरु और शास्त्र का यही महत्व है। अर्थात् जिस समय गुरु साधक का मायापाश दीक्षारूप अस्त्र के द्वारा छेदन करते हैं और जिस समय वस्तुत: ही उनका प्रतिभातत्त्व विकसित हो जाता है। शास्त्र में लिखा है–

तंदागमवशात् साध्यं गुरुवक्त्रान्महाधिया।
शिवशक्तिकरावेशाद् गुरुः शिष्यप्रबोधक:।।

जैसे भस्म में छिपा हुआ अग्नि मुख अथवा धौंकनी के वायु से दहक उठता है, जैसे ठीक समय में बोया और सींचा हुआ बीज अंकुर एवं पल्लवादिरूप से अभिव्यक्त हो जाता है उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान भी गुरूपदिष्ट क्रिया के द्वारा व्यक्त होता है।

यह अनुत्तर महाज्ञान शास्त्रज्ञान से श्रेष्ठ है, क्योंकि यह विवेक से उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय तथा अप्रमेय चैतन्यबोध का रूप धारण करता है उस समय उसे विवेक कहते हैं। उस अवस्था में जीव, ईश्वर और मायादि पाशों का ज्ञान अपने आप उदित हो जाता है। यही प्रातिभ ज्ञान है। सर्वथा भ्रमशून्य होने के कारण इसे सम्यग्ज्ञान अथवा महाज्ञान भी कहा जाता है। उस समय सब प्रकार के परिच्छिन्न ज्ञान अर्थात् इन्द्रियगोचर एवं अन्त:करणगोचर समस्त खण्डज्ञान दूसरे की अधीनता छोड़कर उसी महापक्राश में विश्रान्त हो जाते हैं अर्थात् उसी में लीन हो जाते हैं। जैसे सूर्य की किरणों में दीपक का प्रकाश फीका पड़ जाता है, वही दशा प्रातिभ ज्ञान का उदय होने पर खण्डज्ञान की भी हो जाती है।

विवेक का उदय होने पर इन्द्रियसम्बन्धी शब्दादि विषयों में दूरश्रवणादि विचित्र ज्ञान की उत्पत्ति होती है– उस समय देश, काल तथा आकारगत व्यवधान एव सूक्ष्मता प्रभृति प्रतिबन्धक रहने

पर भी ज्ञान की उत्पत्ति में उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। योगशास्त्र में जितनी विभूतियों का वर्णन मिलता है, वे सभी विवेकवान् को प्राप्त होती है, अर्थात् शक्तिज्ञान का इतना सामर्थ्य है कि तन्त्रोक्त क्रीडाकर्म, षट्चक्र, स्वर साधन, मन्त्रवेध, परकायप्रवेश प्रभृति सभी में उसका अधिकार हो जाता है। एक क्षण में ही ये सब स्वायत्त हो जाते हैं। विवेक की वृद्धि जितनी अधिक होती है उतना ही चित्त में सब भावों से वैराग्य उत्पन्न होता है और वह परम चिद्भाव में उपराम हो जाता है। इसीलिये सिद्धियों से भी राग नहीं रहता। वे लड़कों के खेल अथवा स्वप्न या इन्द्रजाल के समान मालूम होने लगती है। जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान के आलोक से एक साथ भीतर बाहर सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगती है। सारा विश्व ही उनका घनीभूत रूप सा भासने लगता है। इस अवस्था में हेयोपादेय बोध न रहने के कारण संाधक के तुच्छ एवं परिच्छिन्न सिद्धियों के आश्रयभूत तत्तत्प्रकार के निर्दिष्ट ध्यान छूट जाते हैं और सदा के लिये एकमात्र परमवस्तु की भावना ही जागरूक रहती है। इस भावना की दृढ़ता से ही जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। और एक बात है– विवेक की वृद्धि से शाप तथा अनुग्रहव्यापार में सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसलिये विवेकी स्वयं मुक्त होकर दूसरे को भी मुक्त कर सकते हैं।

बद्ध जीवरूपी अणु पञ्चभूतों से आच्छन्न एवं इन्द्रिय-विशिष्ट रहते हैं। इसी में उन्हें एक देह से निकलकर दूसरा देह ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु विवेक के उदय से प्रतिभा का योग होने पर ऐसे जीव शक्तितत्त्वरूप में गिने जाते हैं। ये शुद्धविद्या अवस्था को प्राप्त होकर निग्रह अनुग्रह में समर्थ होते हैं और इसमें क्रमशः प्ररूढ होकर अर्थात् शक्तिपात के क्रमिक आवेश से संसार–समुद्र से पार हो जाते हैं तथा उत्तरोत्तर (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव इन) छः प्रकार के कारणों का परिहार करते हुए अन्त में परमेश्वर का सायुज्य प्राप्त करते हैं। अतएव शिव, शक्ति तथा जीव ही वस्तुतः प्रातिभ विज्ञानरूप में प्रादुर्भूत होते हैं।

आत्मा का स्वाभाविक पूर्ण आत्मबोध संकुचित होकर ही अपूर्ण ज्ञान अथवा अज्ञान का आकार धारण करता है। शक्तिपात से संकोच छूट जाने पर उसे नित्यसिद्ध स्वभाव की स्फूर्ति अवश्य ही होती है। मध्यतीव्र शक्तिपात के जितने लक्षण महापुरुषों ने बताये हैं, उनमें से इतने प्रधान हैं–

१. भगवान् में निश्चल भक्ति।

२. मन्त्रसिद्धि, जिसके प्रभाव से श्रद्धा–विश्वास उत्पन्न होता है।

३. सब तत्त्वों को स्वायत्त करने का सामर्थ्य।

४. आकस्मिक रूप से सब शास्त्रों का अर्थज्ञान इत्यादि।

ये सब लक्षण क्रमशः अभिव्यक्त होते हैं। शक्तिपात के तारतम्य से किसी में सब होते हैं और किसी में कम। इनमें से भक्ति मुक्ति में प्रधान है, अन्यत्र आनुषङ्गिक है तथा मन्त्रसिद्धि भोग में प्रधान है, अन्यत्र आनुषङ्गिक है। शेष दो लक्षण दोनों ही में रहते हैं।

मन्दतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से सद्गुरुलाभ की इच्छा होती है। असद्गुरु के पास जाने की इच्छा उस समय नहीं रहती। शक्तिपात होने पर किसी–किसी को 'तत्त्व क्या है? तत्त्व को जानने वाला कौन है? ऐसी जिज्ञासा से युक्त मन्द प्रातिभ ज्ञान उदय होता है। इसके बाद ही सद्गुरुलाभ की इच्छा होती है और फिर यथासमय उसकी प्राप्ति भी होती है। परन्तु किसी किसी मनुष्य का शक्तिपात के बाद पहले जागतिक उपदेष्टा अर्थात् व्यवहारिक गुरु से परिचय होता है। फिर कुछ दिन उनका संग करते करते पूर्वोक्त जिज्ञासा का आविर्भाव होता है। ये सद्गुरु सांसिद्धिक अथवा संस्कृत भेद से दो प्रकार के होते हैं। सांसिद्धिक गुरु भी शक्तिपात की मात्रा के अनुसार क्रमशून्यता अथवा क्रमवत्ता के कारण सर्वगामी अथवा आंशिक हो सकते हैं। संस्कृत गुरु के भी कल्पित–अकल्पित आदि कई भेद हैं। जीव सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त करके शिवभावापन्न होते हैं और सब विषयों को तत्त्वतः जानकर जीवन्मुक्ति लाभ करते हैं। इस अवस्था में देहादि में आत्मभिमान नहीं रहता तथा विकल्पहीन स्वात्मबोध खुल जाता है। इसलिये देह रहने पर भी न रहने के बराबर ही होता है। रत्नमाला आगम में लिखा है–

यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
सदैव किल मुक्तौऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्।।

जीवन्मुक्त का सुख–दुःखानुभव प्रारब्धकर्म के अनुसार होता है। परन्तु इस अनुभव से उसकी मुक्ति के विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

मध्यतीव्र तथा मन्दतीव्र शक्तिपात के विषय में महापुरुषों का कुछ मतभेद देख पड़ता है। परन्तु वह बहुत साधारण है, इसलिये यहाँ उसकी आलोचना करना आवश्यक है।

तीव्रमध्य शक्तिपात के बाद जो दीक्षा मिलती है उससे अपने शिवत्व की सुदृढ़ उपलब्धि नहीं होती। शिवभाव तो दीक्षा के साथ–साथ अवश्य हो जाता है परन्तु उसका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार का अभाव ही इसका कारण है। देहपात होने पर उसका शिवसायुज्य अवश्यम्भावी है। इस दीक्षा का शास्त्रीय नाम 'पुत्रकदीक्षा' है।

मध्य–मध्य तथा मन्दमध्य शक्तिपात से परमेश्वरलाभ का औत्सुक्य रहने पर भी भोगाकांक्षा निवृत्त न होने के कारण दीक्षा में भी उसी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह दीक्षा 'शिवधर्म्यसाधक दीक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रभाव से इष्ट तत्त्वादि में योजना स्थापित होती है और योगाभ्यास प्रभृति के द्वारा उस स्थान के भोगों को भोगने का अधिकार उत्पन्न होता है। मध्य–मध्य शक्तिपात के द्वारा यह भोग वर्तमान देह में ही हो जाता है और भोगसमाप्ति के बाद देहपात के अनन्तर शिवत्व प्राप्त होता है। परन्तु मन्दमध्य शक्तिपात के द्वारा यह भोग देहान्त द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसके पश्चात् शिवत्व लाभ होता है।

तीव्रमन्द, मध्यमन्द तथा मन्द मन्द– ये तीन प्रकार के शक्तिपात भोगाकांक्षा प्रबल रहने पर होते हैं। इनके अधिकारियों में शिवत्वलाभ का औत्सुक्य विशेष नहीं रहता। इनमें भी उत्तरोत्तर में भोगलालसा का आधिक्य रहता है। इन सब क्षेत्रों में लोकधर्मी दीक्षा की आवश्यकता रहती है। तीव्र मन्द शक्तिपात से देह के अन्त में किसी अभीष्ट भुवन में अणिमादि भोग का उपभोग करते हुए ऊर्ध्वगति लाभ करते हैं। उसके पश्चात् परमेश्वर के सकल रूप में और फिर निष्कल रूप में युक्त हो जाते हैं। परन्तु शक्तिपात और भी कम होने पर अर्थात् मध्यमन्द मात्रा में होने पर किसी भुवन में कुछ समय तक भोग्य पदार्थों का उपभोग करके उस भुवन के अधिष्ठाता से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् शिवत्व लाभ करते हैं, किन्तु जब मन्द–मन्द कोटिका शक्तिपात होता है तो उसी भुवन में सालोक्य, सामीप्य तथा सायुज्यको प्राप्त होकर अत्यन्त दीर्घकालपर्यन्त भोगों को भोगते हुए उस भुवन के भुवनेश्वर से दीक्षा ग्रहणकर अन्त में शिवत्व लाभ करते हैं।

यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि शक्तिपात अथवा श्रीभगवान् की कृपा के बिना कोई जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर सकता– यहाँतक कि पूर्णत्व के मार्ग में भी प्रवेश नहीं कर सकता। शक्तिपात का तारतम्य जीव के आधार (धारशक्ति) के भेद से होता है। परन्तु यह भी सत्य है। कि जीव चाहे कितने ही निम्न अधिकार का हो और कितना ही भोगाकांक्षायुक्त हो, एक बार शक्तिपात होने पर यह कभी न कभी परमद में अवश्य पहुँच जायेगा। भोगाकांक्षादि अन्तराय रहने से उसकी गति में विलम्ब होगा, नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र– यहाँतक कि क्षणमात्र में भी (जैसे तीव्र–तीव्र की तीव्र मात्रा में) हो सकता है। शक्तिपात के समय योग्यता का विचार नहीं होता, परन्तु स्वभावत: योग्यता के अनुसार ही शक्तिपात की मात्रा निर्दिष्ट होती है। परन्तु मात्रा कुछ भी हो, भगवान् शक्ति की ऐसी ही महिमा है कि यह एक बार पतित होने पर जीव को भगवद्धाम में पहुँचाये बिना शान्त नहीं होती– इसमें कोई सन्देह नहीं।

शक्तिपीठ-रहस्य

(ब्रह्मलीन श्री स्वामी करपात्री जी महाराज)

पौराणिक कथा है कि दक्ष के यज्ञ में शिव का निमन्त्रण न होने से उनका अपमान जानकर सती ने उस देह को योगबल से त्याग दिया और हिमवत्पुत्री पार्वती के रूप में शिवपत्नी होने का निश्चय किया। समाचार विदित होने पर शिव जी को बड़ा क्षोभ और मोह हुआ। वे दक्षयज्ञ को नष्ट करके सती के शव को लेकर घूमते रहे। सम्पूर्ण देवताओं ने या सर्वदेवमय विष्णु ने शिव के मोह की शान्ति एवं साधकों की सिद्धि आदि कल्याण के लिये शव के भिन्न–भिन्न अङ्गों को भिन्न–भिन्न स्थलों में गिरा दिया, वे ही ५१ पीठ हुए। ज्ञातव्य है कि योगिनीहृदय एवं ज्ञानार्णव के अनुसार ऊर्ध्वभाग के अङ्ग जहाँ गिरे वहाँ वैदिक एवं दक्षिणमार्ग की और हृदय से निम्न भाग के अङ्गों के पतन स्थलों में वाममार्ग की सिद्धि होती है। सती के विभिन्न अङ्ग कहाँ–कहाँ गिरे और वहाँ कौन–कौन से पीठ बने, निम्नलिखित हैं।

१. सती की योनि का जहाँ पात हुआ, वहाँ कामरूप नामक पीठ हुआ, वह 'अ' कार का उत्पत्तिस्थान एवं श्रीविद्या से अधिष्ठित है। यहाँ कौलशास्त्रानुसार अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। लोम से उत्पन्न इसके 'वंश' नामक दो उपपीठ हैं, जहाँ शाबर मन्त्रों की सिद्धि होती है।

२. स्तनों के पतनस्थल में काशिकापीठ हुआ और वहाँ से 'आ'कार उत्पन्न हुआ। वहाँ देहत्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है। सती के स्तनों से दो धाराएँ निकलीं, वे ही अस्सी और वरणा नदी हुई। अस्सी के तीरपर 'दक्षिण सारनाथ' एवं वरणा के उत्तर में 'उत्तर सारनाथ' उपपीठ हैं। वहाँ क्रमश: दक्षिण एवं उत्तरमार्ग के मन्त्रों की सिद्धि होती है।

३. गुह्यभाग जहाँ पतित हुआ, वहाँ नेपालपीठ हुआ। 'इ' कार की उत्पत्ति हुई। वह पीठ वाम मार्ग का मूलस्थान है। वहाँ ५६ लाख भैरव–भैरवी, २ हजार शक्तियाँ, ३ सौ पीठ एवं १४ श्मशान सन्निहित हैं। वहाँ चार पीठ दक्षिणमार्ग के सिद्धिदायक हैं। उनमें से भी चार में वैदिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। नेपाल से पूर्व में मलका पतन हुआ, अत: वहाँ किरातों का निवास है। वहाँ ३० हजार देवयोनियों का निवास है।

४. वामनेत्र का पतनस्थान रौद्र पर्वत है, वह महत्पीठ हुआ, वहाँ से 'ई' कार की उत्पत्ति हुई। वामाचार से वहाँ मन्त्र सिद्धि होकर देवता का दर्शन होता है।

५. वामकर्ण के पतनस्थान में काश्मीरपीठ हुआ, वह 'उ' कार का उत्पत्ति-स्थान है। वहाँ सर्वविध मन्त्रों की सिद्धि होती है। वहाँ अनेक अद्‌भुत तीर्थ हैं, किन्तु कलि में सब म्लेच्छों द्वारा आवृत कर दिये गये।

६. दक्षिणकर्ण के पतनस्थल में कान्यकुब्जपीठ हुआ, वहाँ 'ऊ' कार की उत्पत्ति हुई। गङ्गा-यमुना के मध्य 'अन्तर्वेदी' नामक पवित्र स्थल में ब्रह्मादि देवों ने अपने–अपने तीर्थों का निर्माण किया। वहाँ वैदिक मन्त्रों की सिद्धि होती है। कर्ण के मल के पतनस्थान में यमुनातट पर इन्द्रप्रस्थ नामक उपपीठ हुआ, उसके प्रभाव से विस्मृत वेद ब्रह्मा को पुनः उपलब्ध हुए।

७. नासिका के पतनस्थान में पूर्णगिरिपीठ है, वह 'ऋ' कार का उत्पत्तिस्थल है। वहाँ योगसिद्धि होती है और मन्त्राधिष्ठातृदेव प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

८. वामगण्डस्थल की पतनभूमिपर अर्बुदाचलपीठ हुआ, वहाँ 'ॠ' कार का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ अम्बिका नाम की शक्ति है तथा वाममार्ग की सिद्धि होती है। दक्षिणमार्ग में यहाँ विघ्न होते हैं।

९. दक्षिण गण्डस्थल के पतन स्थान में आम्रातकेश्वरपीठ हुआ तथा 'ऌ' कार की उत्पत्ति हुई। वह धनदादि यक्षिणियों का निवासस्थान है।

१०. नखों के निपतन–स्थल में एकाम्रपीठ हुआ तथा 'ॡ' कार की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विद्याप्रदायक है।

११. त्रिवलि के पतनस्थल में त्रिस्रोतपीठ हुआ और वहाँ 'ए' कार का जन्म हुआ। उसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में वस्त्र के तीन खण्ड गिरे, वे तीन उपपीठ हुए। गृहस्थ द्विजन को पौष्टिक मन्त्रों की सिद्धि वहाँ होती है।

१२. नाभि के पतन स्थन में कामकोटिपीठ और वहाँ 'ऐ' कार का प्रादुर्भाव हुआ। समस्त काममन्त्रों की सिद्धि वहाँ होती है। उसकी चारों दिखाओं में चार उपपीठ हैं, जहाँ अप्सराएँ निवास करती हैं।

१३. अंगुलियों के पतनस्थल हिमालयपर्वत पर कैलासपीठ तथा 'ओ' कार का प्राकट्य हुआ। अंगुलियाँ ही लिङ्गरूप में प्रतिष्ठित हुई। वहाँ करमाला से मन्त्रजप करने पर तत्क्षण सिद्धि होती है।

१४. दन्तों के पतनस्थल में भृगुपीठ और 'औ' कार का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिकादि मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं।

१५. दक्षिण करतल के पतनस्थल में केदारपीठ हुआ वहाँ 'अं' की उत्पत्ति हुई। उसके दक्षिण में कंकण के पतनस्थान में अगस्त्याश्रम नामक सिद्ध उपपीठ हुआ और उसके पश्चिम में मुद्रिका के पतनस्थल में इन्द्राक्षी उपपीठ हुआ। उसके पश्चिम में वलय के पतनस्थान में रेवती–तटपर राजराजेश्वरी उपपीठ हुआ।

१६. वामगण्ड की निपातभूमि पर चन्द्रपुरपीठ हुआ। तथा 'अः' की उत्पत्ति हुई। सभी मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं।

१७. जहाँ मस्तक का पतन, हुआ, वहाँ 'श्रीपीठ' हुआ तथा 'क' कार का प्रादुर्भाव हुआ। कलि में पापी जीवों का वहाँ पहुँचना दुर्लभ है। उसके पूर्व में कर्णाभरण के पतन से उपपीठ हुआ, वहाँ ब्रह्मविद्या प्रकाशिका ब्राह्मी शक्ति का निवास है। उससे अग्निकोण में कर्णार्धिभरण के पतन से दूसरा उपपीठ हुआ, जहाँ मुखशुद्धिकरी माहेश्वरी शक्ति है। दक्षिण में पत्रवल्ली की पातभूमि में कौमारी शक्तियुक्त तीसरा उपपीठ हुआ। नैर्ऋत्य में कण्ठमाल के निपातस्थल में ऐन्द्रजालविद्या सिद्धिप्रद वैष्णवी शक्तिसमन्वित चौथा उपपीठ हुआ। पश्चिम में नासामौक्तिक के पतनस्थान में बाराही शक्त्यधिष्ठित पाँचवाँ चामुण्डा–शक्तियुक्त क्षुद्रदेवता–सिद्धिकर छठा उपपीठ हुआ और ईशान में केशाभरण के पतन से महालक्ष्मी द्वारा अधिष्ठित सातवाँ हुआ।

१८. उसके ऊपर में कञ्चुकी की पतनभूमि में एक और पीठ हुआ, जो ज्योतिर्मन्त्र प्रकाशक एवं ज्योतिष्मती द्वारा अधिष्ठित है। वहाँ 'ख' कार का प्रादुर्भाव हुआ। वह पीठ नर्मदा द्वारा अधिष्ठित है, वहाँ तप तरने वाले महर्षि जीवन्मुक्त हो गये।

१९. वक्षः स्थल के पातस्थल में एक पीठ और 'ग' कार की उत्पत्ति हुई। अग्नि ने वहाँ तपस्या की और देवमुखत्व को प्राप्त होकर ज्वालामुखीसंज्ञक उपपीठ में स्थित हुए।

२०. वामस्कन्ध के पतनस्थान में मालवपीठ हुआ, वहाँ 'घ' कार की उत्पत्ति हुई। गन्धर्वों ने राग ज्ञान के लिये तपस्या कर वहाँ सिद्धि पायी।

२१. दक्षिण कक्ष का जहाँ पात हुआ, वहाँ कुलान्तक पीठ हुआ एवं 'ङ' कार की उत्पत्ति हुई। विद्वेषण, उच्चाटन, मारण के प्रयोग वहाँ सिद्ध होते हैं।

२२. जहाँ वामकक्ष का पतन हुआ, वहाँ कोट्टकपीठ हुआ और 'च' कार का प्राकट्य हुआ। वहाँ राक्षसों ने सिद्धि प्राप्त की है।

२३. जठरदेश के पतनस्थल में गोकर्णपीठ हुआ तथा 'छ' कार की उत्पत्ति हुई।

२४. त्रिवलियों में से जहाँ प्रथम वलि का निपात हुआ, वहाँ मातुरेश्वरपीठ होकर 'जकार' की उत्पत्ति हुई। वहाँ शैवमन्त्र शीघ्र सिद्ध होते हैं।

२५. अपर वलि के पतनस्थान में अट्टहासपीठ हुआ तथा 'झ' कार का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ गणेश मन्त्रो की सिद्ध होती है।

२६. तीसरी वलि का जहाँ पतन हुआ, वहाँ विरजपीठ हुआ और 'ञ' कार की उत्पत्ति हुई। यह पीठ विष्णुमन्त्रों के लिये विशेष सिद्धिप्रदायक है।

२७. जहाँ वस्तिकापात हुआ, वहाँ राजगृहपीठ हुआ तथा 'ट' कार की उत्पत्ति हुई। नीचे क्षुद्रघण्टिका के पतन स्थल में घण्टिका नामक उपपीठ हुआ, वहाँ ऐन्द्रजालिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। राजगृह में वेदार्थज्ञान की प्राप्ति होती है।

२८. नितम्ब के पतन स्थल में महापथ पीठ हुआ तथा 'ठ' कार की उत्पत्ति हुई। जातिदुष्ट ब्राह्मणों ने वहाँ शरीर अर्पित किया और दूसरे जन्म में कलियुग में देहसौख्यदायक वेदमार्ग प्रलुम्पक अघोरादि मार्ग को चलाया।

२९. जहाँ जघन का पात हुआ, वहाँ कौलगिरि पीठ हुआ और. 'ड' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ वन– देवताओं के मन्त्रों की सिद्धि शीघ्र होती है।

३०. दक्षिण ऊरु के पतनस्थल में एलापुरपीठ हुआ तथा 'ढ' कार का प्रादुर्भाव हुआ।

३१. वाम ऊरु के पतनस्थान में महाकालेश्वरपीठ हुआ तथा 'णं' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ आयुर्वृद्धिकारक मृत्युञ्जयादि मन्त्र सिद्ध होते हैं।

३२. दक्षिण जानु के एतनस्थान में जयन्तीपीठ हुआ तथा 'त' कारकी उत्पत्ति हुई। वहाँ धनुर्वेद की सिद्धि अवश्य होती है।

३३. वाम जानु जहाँ पतित हुआ, वहाँ उज्जयिनीपीठ हुआ तथा 'थ' कार प्रकट हुआ, वहाँ वचमन्त्रों की सिद्धि होकर रक्षण होता है। अत: उसका नाम 'अवन्ती' है।

३४. दक्षिण जङ्घा के पतनस्थान में योगिनीपीठ हुआ तथा 'द' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ कौलिक मन्त्रों की सिद्धि होती है।

३५. वामजङ्घा की पतनभूमि पर क्षीरिकापीठ हुआ तथा 'ध' कार का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ वैतालिक एवं शाबर मन्त्र सिद्ध होते हैं।

३६. दक्षिण गुल्फ के पतनस्थान में हस्तिनापुरपीठ हुआ तथा 'न कार की उत्पत्ति हुई। वही नूपुर का पतन होने से नूपुरार्णवसंज्ञक उपपीठ हुआ, वहाँ सूर्यमन्त्रों की सिद्धि होती है।

३७. वामगुल्फ के पतनस्थान में उड्डीशपीठ हुआ तथा 'प' कार का प्रादुर्भाव हुआ। उड्डीशाख्य महातन्त्र वहाँ सिद्ध होते है। जहाँ दूसरे नूपुर का पतन हुआ, वहाँ डामर उपपीठ हुआ।

३८. देह-रस के पतन-स्थान में प्रयागपीठ हुआ तथा 'फ' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ की मृत्ति का श्वेतवर्ण की दृष्टिगोचर होती है। वहाँ अन्यान्य अस्थियों का पतन होने से अनेक उपपीठों का प्रादुर्भाव हुआ। गङ्गा के पूर्व में बंगला–उपपीठ एवं उत्तर में चामुण्डादि उपपीठ, गङ्गा-यमुना के मध्य राजराजेश्वरीसंज्ञक तथा यमुना के दक्षिण तटपर भुवनेशी नामक उपपीठ हुए। इसीलिये प्रयाग 'तीर्थराज' एवं 'पीठराज' कहा गया है।

३९. दक्षिण पृष्णि के पतनस्थान में षष्ठीशपीठ हुआ एवं वहाँ 'ब' कार का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पादुका मन्त्र की सिद्धि होती है।

४०. वामपृष्णि का जहाँ पात हुआ, वहाँ मायापुरपीठ हुआ तथा 'भ' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ समस्त मायाओं की सिद्धि होती है।

४१. रक्त के पतनस्थान में मलयपीठ हुआ एवं 'म' कार की उत्पत्ति हुई। रक्ताम्बरादिक बौद्धों के मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं।

४२. पित्त की पतनभूमि पर श्रीशैलपीठ हुआ तथा 'य' कार का प्रादुर्भाव हुआ। विशेषत: वैष्णवमन्त्र यहाँ सिद्ध होते है।

४३. मेद के पतनस्थान में हिमालयपर मेरुपीठ हुआ एवं 'र' कार की उत्पत्ति हुई। यहाँ स्वर्णाकर्षण भैरव की सिद्धि होती है।

४४. जहाँ जिह्वाग्र का पतन हुआ, वहाँ गिरिपीठ हुआ तथा 'ल' कार की उत्पत्ति हुई। यहाँ जप करने से वाक्सिद्धि होती है।

४५. मज्जा के पतनस्थान में माहेन्द्रपीठ हुआ, वह 'व' कार का प्रादुर्भाव स्थान है। यहाँ शाक्तमन्त्रों

के जप से सिद्धि अवश्य होती है।

४६. दक्षिण अंगुष्ठ के पातस्थान में वामपीठ हुआ एवं 'श' कार की उत्पत्ति हुई। यहाँ समस्त मन्त्रों की सिद्धि होती है।

४७. वामागुष्ठ के निपतनस्थान में हिरण्यपुरपीठ हुआ तथा 'ष' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ वाममार्ग से सिद्धि लाभ होता है।

४८. रुचि (शोभा) के पतनस्थान में महालक्ष्मीपीठ हुआ एवं 'स' कार का प्राकट्य हुआ। यहाँ सर्वसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

४९. धमनी के पतनस्थान में अत्रिपीठ हुआ तथा 'ह' कार की उत्पत्ति हुई। वहाँ यावत् सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

५०. छाया के सम्पातस्थान में छायापीठ हुआ एवं 'ळ' कार की उत्पत्ति हुई।

५१. केशपाश के पतनस्थान में क्षत्रपीठ का प्रादुर्भाव हुआ, यही 'क्ष' कार का उद्गम हुआ। यहाँ समस्त सिद्धियाँ शीघ्रतापूर्वक उपलब्ध होती हैं।

वर्णमालाएँ

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब भ, म। य, र, ल, व, श, ष, स, ह ळ, क्ष, यही ५१ अक्षर की वर्णमाला है। यहाँ अन्तिम अक्षर 'क्ष' अक्ष माला का सुमेरु है। इसी माला के आधारपर सती के भिन्न–भिन्न अङ्गों का पात हुआ है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि इतनी भूमि वर्ण-समाम्नायस्वरूप ही है। भिन्न–भिन्न वर्णों की शक्तियाँ और देवता भिन्न–भिन्न हैं। इसीलिये उन उन वर्णो, पीठों, शक्तियों एवं देवताओं का परस्पर सम्बन्ध है, जिसके ज्ञान और अनुष्ठान से साधक को शीघ्र ही सिद्धि होती है। (शारदातिलक)

माया द्वारा ही परब्रह्म से विश्व की सृष्टि होती है। सृष्टि हो जाने पर भी उसके विस्तार की आशा तबतक नहीं होती, जबतक चेतन पुरुष की उसमें आसक्ति न हो। अतएव सृष्टि विस्तार के लिये काम की उत्पत्ति हुई। रजः सत्त्व के सम्बन्ध से द्वैतसृष्टि का विस्तार होता है, किन्तु तमस् कारणरूप है, यहाँ द्वैतदर्शन की कमी से मोह की कमी होती है। सत्त्वमय सूक्ष्मकार्यरूप विष्णु एवं रजोमय स्थूलकार्यरूप ब्रह्मा के मोहित हो जाने पर भी कारणात्मा शिव मोहित नहीं होते, किन्तु

जबतक कारण में मोह नहीं, तबतक सृष्टि की पूर्ण स्थिति भी सम्भव नहीं होती। इसीलिये स्थूल सूक्ष्म का हो, किन्तु वह अघटित–घटना–पटीयसी महामाया के ही वश की बात है। इसीलिये सबने उसी की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई, वे अपने पति को स्वाधीन करना चाहती थी। स्वाधीनभर्तृका ही स्त्री परम सौभाग्यशालिनी होती है। वही हुआ। महामाया ने शिव को स्वाधीन कर लिया, फिर भी पिता द्वारा पति का अपमान होने पर उन्होंने उस पिता से सम्बद्ध शरीर को त्याग देना ही उचित समझा। महाशक्ति का शरीर उनका लीला–विग्रह ही है। जैसे निर्विकार चैतन्य शक्ति के योग से साकार विग्रह धारण करता है, वैसे ही शक्ति भी अधिष्ठान–चैतन्ययुक्त साकार विग्रह धारण करती है। इसीलिये शिव पार्वती दोनों मिलकर अर्धनारीश्वर के रूप में व्यक्त होते हैं। अधिष्ठान–चैतन्य सहित महाशक्ति का उस लीलाविग्रह-सतीशरीर से तिरोहित हो जाना ही सती का मरना है।

प्राणी की तपस्या एवं आराधना से ही शक्ति को जन्म देने एवं उसे परमेश्वर से सम्बन्धित कर अपने को कृतकृत्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। किन्तु यदि बीच में प्रमाद से अहंकार उत्पन्न हो जाता है तो शक्ति उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है और फिर उसकी वही स्थिति होती है, जो दक्ष की हुई। सती का शरीर यद्यपि मृत हो गया, तथापि वह महाशक्ति का निवासस्थान था। श्रीशंकर उसी के द्वारा उस महाशक्ति में रत थे, अत: मोहित होने के कारण भी फिर उसको छोड़ न सके। यद्यपि परमेश्वर सदा स्वरूप में ही प्रतिष्ठित होते हैं, फिर भी प्राणियों के अदृष्टवश उनके कल्याण के लिये सृष्टि, पालन, संहरण आदि कार्यों में प्रवृत्त– से प्रतीत होते हैं। उन्हीं के अनुरूप महामाया में उनकी आसक्ति और मोह की भी प्रतीति होती है। इसी मोहवश शंकर महाशक्ति के अधिष्ठानभूत उस प्रिय देह को लेकर घूमने लगे।

देवताओं और विष्णु ने मोह मिटाने के लिये उस देह को शिव से वियुक्त करना चाहा। साथ ही अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति के अधिष्ठानभूत उस देह के अवयवों से लोक का कल्याण हो, यह भी सोचकर भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठानभूत भिन्न-भिन्न अङ्ग जिन-जिन स्थानों में पड़े, वहाँ उन-उन शक्तियों की सिद्धि सरलता से होती है। जैसे कपोत और सिंह के मांस आदिकों में भी उनकी भिन्न विशेषता प्रकट होती है, वैसे ही सती के भिन्न-भिन्न अवयवों में भी उनकी विशेषता प्रकट होती है। इसीलिये जैसे हिंगु के निकल जाने पर भी उसके अधिष्ठान में उसकी गन्ध या वासना रहती है, वैसे ही सती की महाशक्तियों के अन्तर्हित होने पर भी उन अधिष्ठानों में वह प्रभाव रह गया है। जैसे सूर्यकान्तमणि पर सूर्य की रश्मियों का सुन्दर प्राकट्य होता है, वैसे ही उन

शक्तियों के अधिष्ठानभूत अगों में उनका प्राकट्य बहुत सुन्दर होता है। यहाँ तक कि जहाँ–जहाँ उन अगों का पात हुआ, वे स्थान भी दिव्य शक्तियों के अधिष्ठान माने जाते हैं। वहाँ भी शक्तितत्त्व का प्राकट्य अधिक हैं। अतएव उन पीठों पर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। अङ्गसम्बन्धी कोई अंश या भूषण–वसनादि का जहाँ पात हुआ, वहीं उपपीठ है। उनमें भी उन–उन विशेष शक्तितत्त्वों का आविर्भाव होता है। अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति का जो अधिष्ठान हो चुका है, उसमें एवं तत्सम्बन्धी समस्त वस्तुओं में शक्तितत्त्व का बाहुल्य होना ही चाहिये। वैसे तो जहाँ भी, जिस–किसी भी वस्तु में जो भी शक्ति है, उन सभी का अन्तर्भाव महामाया में ही है–

यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।। (दुर्गासप्तशती)

अपनी–अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार इष्ट देवता, मन्त्र, पीठ, उपपीठ के साथ सम्बन्ध जोड़ने से सिद्धि में शीघ्रता होती है। तथा च–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
प्रवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। (वाक्यपदीय)

आदि वचनों के अनुसार प्रणवात्मक ब्रह्म ही निखिल विश्व का उपादान है। वही शक्तिमय सती शरीररूप में और निखिल वाङ्मय प्रपञ्च के मूलभूत एकपञ्चाशत् वर्णरूप में व्यक्त होता है। जैसे निखिल विश्व का शक्ति रूप में ही पर्यवसान होता है, वैसे ही वर्णो में ही सकलं वाङ्मय प्रपञ्च का अन्नर्भाव होता है, क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णों की आनुपूर्वीविशेष मात्र हैं। शब्द अर्थ का, वाच्य वाचक का, असाधारण सम्बन्ध, किं वहुना अभेद ही है, अतएव एकपञ्चाशंद् वर्णों के कार्यभूत सकल वाङ्मय प्रपञ्च का जैसे एकपञ्चाशद् वर्णों में अन्तर्भाव किया है, वैसे ही वाङ्मय प्रपञ्च के वाच्यभूत सकल अर्थमय प्रपञ्च का उसके मूलभूत एक पञ्चाशत् शक्तियों में अन्तर्भाव करके वाच्य वाचक का अभेद प्रदर्शित किया गया है। यही ५१ पीठों का रहस्य है।

त्रैपुरसिद्धान्तदिग्दर्शनम्

शिवसायुज्यङ्गताः
श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथाः (सीतारामकविराजाः)

आगमपदार्थः–

निगमागमयोर्गमेः साधारण्यात् गम्लृधातोः सर्वेऽर्थाः संश्लिष्टाः। तेनागमो न वेदमार्गाद्बहिरिति वैदिकोपासनाविज्ञानस्योपबृंहणमेवात्रोपलभ्यते। पात्रापात्रविवेको यथा निगमे तथैवागमेऽपि। वैदिक-कर्मोपासनासु द्विजातिरेवाधिक्रियते। आगमे यथापात्रं सर्वेधिकारिणः। इदमेव कारणमस्ति यद् वेदविद्या भारतवर्षमन्येभ्यो भूभागेभ्यो व्यतिषजति। परं भगवत्तत्त्वविज्ञाने सर्वेऽमृतपुत्रा अधिक्रियन्ते। श्रीमद्भागवते पञ्चमस्कन्धे भारतवर्षस्येदं वैशिष्ट्यं ख्यापितम्। देवा अपि भारतवर्षे ब्राह्मणादिरमणीययोनौ जनिं कामयमानाः भगवन्तं प्रार्थयन्ते। वैदिकमुपास्तिविज्ञानमेवागमेषु विशदीक्रियत इति वस्तुस्थितिः। उपनिषद्रूपेऽपौरुषेयवेदभागे विविधदेवोपासनविद्यासु इयं श्रीविद्या ब्रह्मविद्येति देशिकानां निगमः।

आगमस्वरूपम्–

'आ समन्ताद् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमित्यागमः। स्वस्वरूपज्ञान येन भवति तज्ज्ञानमेवागमशब्देन प्रतिपाद्यते। किं नाम तत्स्वरूपमिति चेत् **अभेदेन पारमेशस्वरूपविमर्शनमेव। तच्च पूर्णाहन्तास्वरूपं शिवोऽहमिति भावनम्।** तत्कथमुपपद्यत इति चेत्–

'गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च।
अर्थिप्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते॥
आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः।'

अर्थिप्रत्यर्थिभावेन, अर्थी प्रष्टा, प्रत्यर्थी संशयच्छेदकरो वक्ता। तयोर्भावोऽनुग्राह्यानुग्राहकभावेन यः प्रवृत्त आगमस्तेन लभ्यते स्वरूपज्ञानम्। इत्थं स्वच्छन्दतन्त्रे आगमपदार्थनिर्वचनम्। अपि च–

आगतं शिववक्त्राच्च गतं वै गिरिजामुखे।
गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः॥
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।

इति, तदेवागमहरस्यं विवृणोति–

''आगमो ज्ञानमित्युक्तमिति। परशक्तिस्फाररूपमिति कृत्वा परशक्तिरेवागमः। परशक्तिस्फारं पञ्चाशन्मातृकारूपं प्राक् सिसृक्षोः शिवस्य स्वात्माभिन्ना विश्वघटनापटीयसी, सृष्टिस्थितितिरोधानानु–ग्रहपञ्चकृत्यकलाकलापकेलिलोला, सकलज्ञानविज्ञानकल्पितकलेवरा, अगजगदोकसां देशकालकलना–

वैचित्र्यचित्रचमत्कारिणी विजृम्भणशीला, भाव्यद्विश्वविधानरचनाचातुर्यपरिपूर्णा, पराशक्तेरेव स्फारं शब्दराशिभूतं ज्ञानमागम इत्युच्यते। तेन अनन्ताः शास्त्रकोटयः। अतः– समस्तवाङ्मयाधिष्ठात्री शास्त्रस्वरूपिणी 'शब्दब्रह्म' इति गीयते। अत एवोक्तम् श्री स्वच्छन्दतन्त्रे–

''शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः''

'यत्किञ्चित् क्वचित् शासनाच्छास्त्रम्''। तदुक्तं वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे–

''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।''

इति। शास्त्रमन्तरा हेयोपादेयविचार एव न सम्भवति। शास्त्रमन्तराभुवनं मूकवद्भवेत्। तदुक्तमागम-रहस्यस्तोत्रे–

'साक्षाद् भवान् यदि विधाय न मूर्तिमाद्यां तत्त्वं निजं तदवदिष्यदतोऽतिगुह्यम्।
नाज्ञास्यत त्रिभुवनं ध्रुवमन्धमूककल्पं समस्तमसमञ्जसतामयास्यत्।। ''

षाड्गुण्यविवेकेऽपि–

साक्षात् त्वमेव वा शास्त्रं त्वदीयैव हि सा मतिः।
शब्दद्वारेण संक्रम्य संस्करोत्यधिकारिणः।।

अतः सर्वव्यवहारजातं तत्त्वज्ञानञ्च शास्त्रादेव सम्भवति। अतः साक्षाद् भगवानेव शास्त्ररूपेण संक्रमते। तच्च शास्त्रं शब्दब्रह्म –

''द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति।।

अतः शास्त्रं सर्वं शब्दात्मकम्। शब्दश्च ' पञ्चाशद्वर्णराशिः। तत्कथं परशक्तिस्वरूपमिति वदति स्वच्छन्दे–

शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्त्तितः। इति।

ततः कोऽसौ हंस इति समुदेति कापि बुभुत्सा। तत्रैव समाधानमपि–

'हंसोच्चारस्तथोच्यते'

इति प्रोक्तम्। अपि च– '**हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः'। इत्थं हलाकृतिरनच्को हकारोऽनाहतध्वनिरूपः।** एवम्भूतो हकारः स्वयमुच्चारितः प्राणरूपेण स्थितः। तथा चोक्तम् –

नास्योचारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।

स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनामुरसि स्थितः।। (स्व.त.७/५९)

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गते देवीस्तवे–

'अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः'

अर्धमात्रारूपेण स्थिता सा परमा शक्तिर्वैखरीभावेनानुच्चार्या। यतो हि स्वररहितस्य व्यञ्जनस्योच्चारणं नैव सम्भवति। गुरुप्रबोधितमार्गेणोपासनया च केषाञ्चिद् योगिनामेव तज्ज्ञानं भवितुमर्हति। यथोक्तं भगवता देशिकेन्द्रेणाचार्यचणेनाद्यशङ्करभगवत्पादेन सौन्दर्यलहर्याम्–

''समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकम्।
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणति–
र्यदादत्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पय इव।।''

हंसद्वन्द्वं किमप्यनिर्वचनीयं शिवशक्तिस्वरूपं महतां योगीन्द्राणां मानसचरम्। तस्यालापाद्धसस्वरूपस्य ज्ञानादनाहतध्वनेः श्रवणादष्टाशगुणितविद्या, दोषरहितानि सर्वाणि शास्त्राणि प्रस्फुरन्ति। तदेव सर्वशास्त्रनिदानम्। अस्यानाहतध्वने रूपं स्पष्टतयाभिहितं केनापि–

''आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे
नादात्मना परिणतं तवरूपमीशे,
प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानम्।
शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः।'' इति

अनाहतनाम्नो देशे हृदये नादात्मना परिणतं भगवत्याः पराया रूपं नेत्रसलिलैः पुलकैश्च केचन धन्याः शंसन्ति। अनाहतध्वनिश्रवणजनितेनानन्देन पुलकोद्गम आनन्दाश्रुपातश्च सञ्जायते। तेनैव रूपेण शंसन्ति कथयन्ति न तु वाचा। एवम्भूतस्य हंसस्य न कोऽप्युच्चारयिता। न च कोऽपि प्रतिहन्ता विद्यते। अशेषं वाच्यवाचकक्रममतिक्रम्य परमाभेदसारमहामन्त्रवीर्यात्मना स्फुरति ह्यस्य सर्वकर्तृत्वं परमातृत्वं च सिद्ध्यति। अत एवायमनाहत इत्युद्घोष्यते। इतरवर्णवत् स्थानप्रत्ययकरणाभिघातान–भिव्यक्तत्वादनस्तमितरूपत्वात् प्राणिनामुरसि– हृदये जीवितस्यापि जीवभूतः स्थितः। केचिदेव त्ववधानधना एतत्सत्तामाविशन्तीति स्वच्छन्दोद्योते आचार्यप्रवरक्षेमराजेन वर्णितः स्वयमुच्चरति हंसः।

महामाहेश्वरा अभिनवगुप्तपादास्तु इतोऽप्यधिकं वर्णयन्ति स्वविरचिते तन्त्रालोके–

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णविभागवान्।
योऽनस्तमितरूपत्वादनाहतमिहोदितः।।

स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एव सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्।।

अनाहतोदितस्यानस्तमितरूपस्याजस्रमखण्डरूपेण प्रवर्त्तमानस्य सर्ववर्णसमूहस्य नादात्मकस्य वर्णस्य श्रवणेन भैरवसद्भावो मातृसद्भावश्च प्रादुर्भूयते। एकाक्षरा सा पराशक्तिः, यस्यां चराचरात्मकं सकलं विश्वं लीनमस्ति। अयमेव शाक्तसमावेशः सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वभावविधानमध्यमधामप्रवेशरूपशुद्धविद्योदयः। शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशवत्वसिद्धिरिति शिवसूत्रे वर्णयता श्रीक्षेमराजेनोक्तं यत् साधको यदा मितसिद्धीरनभिलषन् विश्वात्मप्रथामिच्छति तदाऽस्य वैश्वात्म्यप्रथावाञ्छया यदा शक्तिं सन्धत्ते तदा 'अहमेव सर्वम्' इति शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वरूपं माहेश्वर्यमस्य सिद्ध्यति। तस्मात् परं किमपि नास्ति—

तस्मात् सा हि परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते।
विन्दते यत्र युगपत् सर्वज्ञादिपरान् गुणान्।।

अतः शब्दराशिरेव हंसोच्चारात्मा, हंसोच्चारश्च परशक्त्यनुभवसार इति। एवं हृदयस्था रविप्रख्या त्रिकोणान्तरदीपिकेति ललितासहस्रनामस्तोत्रे रविशब्देन प्रोच्यते। साम्बपञ्चाशिकायामपि तत्त्वमेतदेव 'चिदर्क' शब्देन निरूपितम्।

भगवानाद्यशंकराचार्योऽपि श्रीप्रपञ्चसारतन्त्रे प्राणात्मकं हकाराख्यं बीजं तेन तदुद्भवः' इति हकारस्यैव प्राणात्मकत्वं स्वीकुरुते। परात्रिंशिकायामपि—

''यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं सर्वमेतच्चराचरम्।।''

इत्युक्तम्। स्पन्दकारिकायां स्पन्दरूपस्यैवास्य तत्त्वस्य सुबहुविवेचनं विद्यते। 'प्राक्संवित् प्राणे प्रतिष्ठिता' इति रीत्या तत्तत्त्वं सर्वदा सर्वत्रानुस्यूतम्।

शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसप्रभान्वितः।
आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः।।

इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या हंसः सर्वेषां हृदि स्वतः स्फुरन् प्राणः प्राणनापरपर्यायो जीवः, स एषोऽविच्छेदेन गुरुपारम्पर्येण ज्ञातः सर्वज्ञत्वं प्रयच्छति। स हलाकृतिर्हकारः समस्तं विश्वं क्रोडीकृत्य चितिरूपः कुण्डलिन्याकारः प्रसुप्तभुजगाकृतिः परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपं विधत्ते। अनेनैव सर्वाणि शास्त्राणि समुद्भवन्ति। सर्वत्र सर्वदा चाब्रह्मभुवनाल्लोकमखण्डमण्डलाकारेण प्रस्फुरति। तदुक्तम्—

''अनेनैव च योगेन हंसः पुरुष उच्यते।
ब्रह्मविष्णवीशमार्गेण चरन् वै सर्वजन्तुषु।।''

एवम्भूतप्रमाणकदम्बकैः शब्दो हंसः इति सिद्ध्यति। अतः परशिवप्राप्तये शब्दरूपा पराशक्तिरेव हेतुभूता। यथा हि— ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकं। ज्ञापकं बोधमतुलं दीपवद् द्योतनं यतः, इत्यनुसारं परशक्तिप्रथात्मकं ज्ञानं दीपवद् वस्तुस्वरूपं द्योतयति।

उक्तञ्च—

''दीपहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य चाहरेत्।
एवं ज्ञानेन च ज्ञेयं तस्मिन् कुर्यात्तु संस्थितिम्।।

एवमेव श्रीविज्ञानभैरवोऽपि—

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः श्रितः।।

अतः शक्तिसाधनेनैव ज्ञानं भवितुमर्हति, नान्यः पन्थाः। अपि च—

न गुणेन विना तत्त्वं न तत्त्वेन विना गुणः।
गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र न तत्त्वं गृह्यते क्वचित्।।

इत्युक्तनयेन धर्ममुखेनैव शिवो धर्मी प्रतीयते। विशेषतः परशिवात्मा, तस्मिन् विश्वनिर्भरम् शक्त्युपायैर्विना स्वतोऽनुप्रवेशायोगात्। अत आगमं स्वज्ञानम्। ज्ञानेनैव शिवो ज्ञायते। तज्ज्ञानं च शब्दराशिसतत्त्वम्। यथा हि शिवसूत्रे **'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका'**। अत आगमस्वरूपं पञ्चाशन्मातृकास्वरूपभूता शक्तिरिति सुसिद्धम्। तत्र च त्रैपुरसिद्धान्तस्य पारम्यम्।

— का नाम त्रिपुरा?—

भगवती ललितामहात्रिपुरसुन्दरी तन्त्रागमेषु 'त्रिपुरा' नाम्ना विख्याता। ऋग्वेदान्तर्गत-सांख्यायनशाखीयत्रिपुरोपनिषदि—

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः।
अधिष्ठायैनामजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्।।

इत्येवं रूपेण श्रीचक्रपरदेवतास्वरूपप्रतिपादनपुरःसरं त्रिपुरामहिमा वर्णितः। त्रिपुराशब्दस्य निर्वचनं च 'त्रिभ्यस्तेजोबन्नादिभ्यः पुराभूता त्रिपुरा' इति प्रसिद्धम्। तेजोऽबन्नादिभ्यः पूर्वसत्त्वमेव सर्वतत्त्वातीतत्वमेव ब्रह्मणः। अत एव त्रिपुरा आद्याशक्तिः अनवच्छिन्ना परा भट्टारिका शिवादिक्षित्यन्ता षट्त्रिंशत्तत्त्वमयसर्वप्रपञ्चात्मिका, तदुत्तीर्णा चेति सर्वोपनिषत्प्रसिद्धा। इयं 'त्रिपथगा त्रिप्रकारा' इति न्यायात् विन्दुत्रयमात्रात्रयतत्त्वत्रयव्याहृतित्रयवाक्त्रयबीजत्रयवेदत्रयलोकत्रयगुणत्रयसन्तानत्रयगुरुत्रय धामत्रयपीठत्रयमातृकाद्यष्टमूलत्रिकोणरूपैबहुविधैर्विभाव्यते। त्रिपुरानाम्नो महत्वं प्रतिपादयन्तः श्री लघुभट्टारकाः—

देवानां त्रितयं त्रयी हुतुभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरः।
त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्मवर्णास्त्रयः।
यत् किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तुत्रिवर्गात्मकम्।
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः॥

तथा चतुःशत्याम्–

त्रिपुरा परमाशक्तिराद्या, ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका:॥''
कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी।

इत्यादिपद्यकदम्बकैः प्रतिपादिता सकलजगत्कारणभूता त्रिपुरा-ब्रह्मविद्या सुप्रसिद्धैव। त्रिपुरोपासना वेदवेदाङ्गपुराणादिष्वनेकत्र वर्णिता। तन्त्रागमानां त्वियं सारसर्वस्वभूता। उपासनान्तर्गतानां विषयाणा सम्यग् ज्ञानपुरसरं तत्तद्विधिनियमोपदेशपालनपूर्वकं विचार्यवादजनितनिर्णयविषयार्थः सिद्धान्तः। अयं सिद्धान्तः भगवता परशुरामेण कल्पसूत्रेऽष्टादशखण्ड्यां निरूपितः। यथोक्तं तत्रैवान्ते फलश्रुतौ–

'य इमामष्टादशखण्डीं महोपनिषदं महात्रैपुरसिद्धान्तसर्वस्वभूतामधीते स सर्वेषु यज्ञेषु यष्टा भवति। यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति इति हि श्रूयते इत्युपनिषत्'।

इति ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकत्वादुपनिषद्रूपेऽस्मिन् सूत्रे साक्षात् परापरेति द्विविधे ब्रह्म प्रतिपादिते। साक्षात् ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनमत्र विद्यते। अत एवेयं महोपनिषत्। 'त्रिपुरा सम्बन्धी त्रैपुरः स चासौ सिद्धान्तश्च त्रैपुरसिद्धान्तः' इति दृशाऽत्र सिद्धान्तस्यास्य सर्वस्वभूतं तत्त्वं निरूपितमस्ति। 'षट् त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वम्' इत्यादिनारभ्य आत्मलाभान्न परं विद्यते, सैषा शास्त्रशैली इत्यन्तं कल्पसूत्रे प्रतिपादितम्। अस्यैव सारसर्वस्वं श्रीविद्यारत्नाकरे प्रतिपादितम्।

'भूतानि, तन्मात्राणि, ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि, अहङ्कारबुद्धिमनांसि, गुणतादाम्यरूपा प्रकृतिः, शरीरकञ्चुकितश्शिवो जीवः, परमशिवगताः स्वतन्त्रतानित्यनित्यतृप्तता–सर्वकर्तृकतासर्वज्ञताधर्मतादि एव सङ्कुचितास्सन्तो जीवे नियति–कालरागकलाविद्या–शब्दवाच्याः भवन्ति। माया (जगत्परमशिवयोर्भेदबुद्धिः) शुद्धविद्या (तयोरभेदबुद्धिः) जगदिदन्तया पश्यन् परमशिव ईश्वरः, तदहन्तया पश्यन् सदाशिवः, शक्तिः परमशिवस्य जगत्सिसृक्षा, तद्वान् शिवः, षट्त्रिंशत्तत्त्वानि, स्वविमर्शः पुरुषार्थः, वर्णसमुदायरूपा मन्त्रा नित्याः (मूलविद्यासमसत्ताका व्यावहारिकनित्याः) मन्त्राणामचिन्त्यशक्तित्वेन स्वगुरुपरम्परोपदेशैरगम्यधर्मरूपेण सम्प्रदायेन गुरुशास्त्रदेवतासु विश्वासेन सर्वास्सिद्धयः, आचार्योक्तरीत्या गुरुमन्त्रदेवतात्मनामैक्यं विभावयन् मनःपवनयोरेकयत्ननिरोद्धव्यत्वज्ञानाच्च प्रत्यगात्मवेदनम्,

भावनादार्ढ्यान्निग्रहानुग्रहसिद्धिः। दर्शनान्तरानिन्दनेन स्वोपास्यनिष्ठया मन्त्रार्थानुसन्धानेन कामक्रोधनिन्दापरिवर्जनेन च सिद्धयो भवन्ति।

वृत्तिभिर्वेद्यं सर्वं हविः, इन्द्रियाणि स्रुचः, सङ्कोचेन स्वात्मस्थितास्सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादयः परमशिवशक्तय एव ज्वालाः, स्वात्मशिव एव पावकः, स्वयमेव होता, निर्गुणब्रह्मापरोक्ष्यं फलम्, स्वपारमार्थिकस्वरूपलाभान्न परमिति सार इति।'

अयमेव सिद्धान्तस्तन्त्रान्तरेषु त्रिपुटीरूपेण बहुधा प्रतिपादितः। यथा योगिनीहृदये— (१) परा, (२) परापरा, (३) अपरा' इति। एवमेव (१) बुद्ध, (२) प्रबुद्ध, (३), सुप्रबुद्ध (१) मन्त्र, (२) मन्त्रेश्वर, (३) मन्त्रमहेश्वर (१) साधक, सिद्ध, (३) सिद्धिः (१) नर, (२) शक्ति, (३) शिव (१) आणव, (२) शाक्त, (३) शाम्भव—समावेश—प्रभृतीनां तन्त्रान्तरोक्तानामेतासां त्रिपुटीनां लक्ष्यमेकमेव। साधनापद्धतयश्च पार्थक्यं भजन्ते। परं च परमकारुणिकेन भगवता परशुरामेणैषां त्रिपुटीं पञ्चधा विभज्य साधकानां परमोपकारः संसाधितः। पञ्चधा विभागे चायं साधनाक्रमः समुपदिष्टः— (१) गणपतिक्रमः, (२) श्रीक्रमः, (३) श्यामलाक्रमः, '(४) दण्डिनीक्रमः, (५) पराक्रमश्चेति। एतेषु श्रीक्रमः त्रिपुरार्णवग्रन्थे महता समारम्भेण निरूपितः।

साम्प्रतं प्रत्यभिज्ञामतस्य महान् प्रचारः श्रूयते। तन्मतावलम्बिनस्त्रिकमतं सर्वोत्तमोत्तमं व्याहरन्ति। तन्मूलभूतस्य काश्मीरशैवाद्वैतस्य कुल्यारूपमेव तेनैवानुप्राणितञ्चास्ति।

आद्या श्रीशङ्कराचार्या अपि सौन्दर्यलहरीस्तोत्रे त्रैपुरसिद्धान्तमेवापूपुषन्। प्रख्यापितस्य वेदान्तसिद्धान्तसारभूतस्याद्वैतमतस्य प्रतिष्ठार्थं शाक्ताद्वैतदर्शनं त्रैपुरसिद्धान्तानुगुणं च साध्वमन्यन्त। 'सम्प्रदायो हि नान्योऽस्ति लोके श्रीशङ्कराद् बहिः इति, श्रीविद्यार्णवोक्तरीत्या श्रीविद्यासम्प्रदायप्रवर्तका भूत्वा कान्दिशीकानां स्वल्पशेमुषीकाणां कलिजानां हिताय सुमहतीमुपकृतिरूपां त्रिपुरोपास्तिं व्यतानिषुः। अत आगमानां सारभूतस्त्रैपुरसिद्धान्त एव सर्वथा समाश्रयणीय इति त्रैपुरसिद्धान्तदिग्दर्शनसंक्षेपः।

आर्षकाव्य की सौन्दर्यसाधना एवम् श्रीविद्योपासना

– प्रो. रमाकान्त आंगिरस

भारतवर्ष में समस्त श्रुतिपरम्परा का तात्पर्य जीवन और जगत् में सौन्दर्य और आनन्द की अवतारणा का रहा है। आनन्द का सौन्दर्य के साथ व्याप्ति–सम्बन्ध भले ही अनिवार्य रूप से न रहे किन्तु सौन्दर्य जहां होता है वहां आनन्द अवश्य उतर आता है। सौन्दर्य में लोकोत्तरता के साथ लौकिकता की अन्विति को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आर्षकाव्यधारा में प्रकाश की दिव्यता की अनुभूति के साथ साथ प्राकृतिक परिवेश में भी सौन्दर्यानुभूति कां आह्लाद दृष्टिगोचर होता है। प्रकाश और विमर्श के सामरस्य की यह क्रीड़ा आर्षचेतना का मूल प्राण है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए ऐसे अनेक अग्नि की स्तुति में प्रयुक्त उन मन्त्रों को लिया जा सकता है जहां उसके व्यक्तित्व को सुचारु कहते हुए उससे जीवन और जगत् के मगलमय विधान के लिए नाना प्रकार की अपेक्षाएं की गई हैं– 'हे अग्निदेव, तुम शोभन पंखों वाले गरुड़ होते हुए पृथ्वी पर से उड़ते हुए अपनी भासा से अन्तरिक्ष को प्रकाश से भर दो। सौर ऊर्जा में परिणत होकर सबसे ऊपर द्युलोक को ज्योति से उद्दीप्त कर दो और तेजस् से समस्त दिशाओं को आलोकित करते हुए उन्हें सुदृढ़ बना दो।'

इसी अग्नि को नारीतत्त्व के लावण्य में परिणत होते हुए देखकर ऋषि मेधा ने उषासूक्तों में उसे एंक स्वस्थ और सम्पूर्ण नारी व्यक्तित्व की दिव्याम्बरा भगवती के रूप में चित्रित किया जो मानव मात्र और साधक यजमान की कामनाओं को सार्थक और सफल बना देती हैं। संभवत: तेजोमय तत्त्व की इसी दीप्ति के कारण अर्धनारीश्वर की अवधारणा का साक्षात्कार परवर्ती संस्कृत साहित्य के महाकवियों को हुआ जिसके आगे अपने हृदय का समर्पण करते हुए वे गान करते आ रहे हैं– 'मन्दारमालाकलितालकायै....नमः शिवायै च नमः शिवाय'।

श्रुति की अनुवर्तिनी इसी स्मृति की परम्परा के चित्ताकाश की मणिमण्डपिका में भगवती श्री राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी का कालान्तर में अवतरण हुआ। वैदिक ब्रह्मविद्या के आधार पर चलने वाली एक अनुपम शासनपद्धति का आविष्कार हुआ। एक ऐसा राष्ट्र बना जिसमें सभी आसुरी शक्तियाँ अपनी तामसी प्रकृति से मुक्त होकर दैवी विधान के आलोक में रूपान्तरित हो

गईं। भगवती मन्त्रिणी और दण्डनाथा जैसी शक्तियों के आविष्कृत हो जाने पर महाराज्ञी के अखण्ड शासन में जीवन और जगत् का वैषम्य निकल गया। व्यक्ति और समाज या लोक के स्तर पर एक ऐसे स्वराज्य की संभावना का संकल्प साकार हुआ जिसे श्रुति और स्मृति परम्पराएं एक साथ मिलकर तीनों पुरों में एक साथ लागू करना चाहती थीं। इसी कारण श्रीविद्या के परवर्ती आचार्यों ने श्रीविद्या का निरूपण सामासिक पद्धति में इस प्रकार किया है:

श्रीविद्यामखिलागमान्तविदितां ब्रह्मस्वरूपां शिवां
सत्यज्ञानसुखां विशेषरहितामाद्यन्तहीनां परा-
मात्मत्वेन विभावयन्नरवरो सद्यो विमुक्तिं गतो-
ऽप्यादिकहान्तमुपासनैकरसिक: श्रौतं विधिं मानयेत्।।

भारत की परवर्ती दार्शनिक परम्परा में जब ज्ञान और कर्म की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता को लेकर अत्यधिक विरोध की बात होते होते पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दर्शनों के अपने अपने बढ़ते प्रभाव के कारण श्रुति के स्वरूप में ही विखण्डन देखा जाने लगा तब श्रीविद्या के रूप में श्रुति की सम्पूर्णता के दर्शन का ही आविर्भाव हुआ। तार्किक कठोरताओं का विलय हृदयाश्रयी अनुभव में मानव जीवन की सम्पूर्णता को लेकर हुआ। राग और विराग, युद्ध और शान्ति, विद्या और अविद्या, ज्ञान और कर्म के द्वन्द्व में उलझे भारतीय संवेदनशील मानस को वेदप्रतिपादित विश्वव्यवस्था का ऐसा योजनासूत्र मिल गया जिसके अनुसार योग और भोग, नित्य और अनित्य, अमृत और विष एक ही जीवनरेखा के दो सिरे दिखाई देने लगते हैं। अत: श्रीविद्या के रूप में ब्रह्मविद्या ही वेदों की सौन्दर्यसृष्टि और तत्त्वदृष्टि का समन्वित सार है।

'पुहुपवास' से भी अधिक पतला और सूक्ष्म होने के कारण 'वस्तुतत्त्व' सर्वथा अग्राह्य, अलक्षण एवम् अचिन्त्य है। उसकी प्रतीयमानता को सौन्दर्य के रूप में ग्राह्य, लक्ष्य एवम् बोधगम्य बनाया जा सकता है, यह श्रीविद्या का सत्य है। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि के आकर्षण की सोलह कलाएं बाहर के जगत् से लेकर भीतर के अन्तिम छोर तक साधक को पहुंचाने का काम कैसे करती हैं, इसका रहस्य जानना हो तो श्रीयन्त्र के षोडश दल पद्म पर अपने मन–प्राण को केन्द्रित करने वाले उपासक को सृष्टि के समस्त सौन्दर्य की निधि प्राप्त हो सकती है। देशिकेन्द्र श्रीदुर्वासा बड़े आग्रह से 'श्रीमहात्रिपुरामहिम्न: स्तव' के श्लोक १७ में फलश्रुति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि इस जगत् में रहते हुए 'भवभीति' के भञ्जन का एक ही उपाय

है कि गिरीश की प्रिया गौरी के स्वरूप का अनुध्यान होता रहे। ऐसी स्थिति में समस्त विरोधों का परिहार होकर सारा विश्व एक महाकाव्य बन जाएगा। जिस 'गृहावास' या 'धरावास' को 'संबाधरूप' मानकर बुद्ध विचलित होकर प्रव्रजन कर गए, वहीं घर श्री का आयतन हो जाया करता है। गर्वित रहने वाले प्रणत हो जाते हैं, स्त्री–संगम मोक्ष का द्वार बन जाता है। मन्तव्य यह है कि इस काव्यदृष्टि के प्राप्त होने पर सौन्दर्य–सृष्टि के सभी द्वार जागतिक या मायिक विरोधों का परिहार बनते चले जाते हैं।

वस्तुतः श्रीविद्या इस श्री साधना के सभी सम्प्रदायों और आचार्यों की परम्परा द्वारा बार–बार किया गया आर्षदृष्टि का ही नूतन आविष्कार है। उसमें प्रतिपादित मन्त्रसंकेत, चक्रसंकेत और पूजासंकेत का तात्पर्य उसी कविमानस को अंकुरित करने का रहा है जिसमें मन्त्रसंहिता का काव्यानुभव, ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुष्ठान–बल और उपनिषदों की ब्रह्मदृष्टि का सामरस्य अपने प्रतिक्षण के स्फुरण के साथ उज्जीवित रहे। आत्मालम्बी, दैन्यविहीन, लोकप्रतारणारहित, स्वात्मानुकूल यौवन और जीवन का उपभोग, व्यक्ति और लोक के अभ्युदय और निश्रेयस् को समर्पित राजनीति की राज्यश्री, यही सब आर्षकाव्य की अधिष्ठात्री राजराजेश्वरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी के राज्यदर्शन का अभययुक्त वरदान है जिसे पाकर शाक्त जन अपने सरल जीवन की अकुटिल भंगिमाओं का निदर्शन ऐसी समर्पण–चित्तता के साथ घोषित करते हैं–

याचे न कञ्चन न कञ्चन वञ्चयामि
सेवे न कञ्चन निरस्तसमस्तदैन्यः।
श्लक्ष्णं वसे मधुरमद्भि भजे वरस्त्री
देवी हृदि स्फुरति मे कुलकामधेनुः॥

(कालिदासकृत पञ्चस्तवी के घटस्तव में श्लो० २०)

१६०५, सेक्टर ४४बी
चण्डीगढ़– १६००४७

उपासना की भावभूमि

डॉक्टर राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी, डी.लिट्

उपासकगण नवरात्र में उत्सवमय हो जाते हैं। विवाह और पुत्रजन्म अथवा 'होली–दीवाली' पर जैसे साधारण गृहस्थ जन उत्साह से पूर्ण हो जाते हैं, वैसे ही नवरात्र पर्व पर उपासकों के मन में आनन्द–उमंग झलकने लगता है। चिन्ता और क्रोध जैसे मनोविकारों को भूल कर उपासक निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व, निर्लिप्त होकर भगवती के आश्रित और आनन्दभाव में डूब कर अहर्निश भगवती का स्मरण करते हुए नौ दिन व्यतीत करते हैं। श्रीयन्त्र के अर्चन–पूजन का क्षण–क्षण महोत्सव होता है। सांसारिक चिन्ताएँ उसके पास फटकने में भी डरती हैं। भगवती का आंगन चिन्तामणि का है। चिन्ता और अभाव वहाँ कहाँ है? चिन्तामणिगृह के चारों ओर कल्पवृक्षों का वन है, जिसका स्मरण करते ही उपासक पूर्णतृप्ति और पूर्णकाम भाव में निमग्न हो जाता है। सारी अभिलाषा पूर्ण हो जाती है। अभिमान, असन्तोष, अभाव आदि क्षुद्रताओं को निकाल कर उपासक की भावना होती है कि मैं जहाँ भी हूँ, जैसा भी हूँ, जो भी हूँ – पूर्ण हूँ। पूर्ण से ही जनमा हूँ और पूर्ण में ही लय हूँ। मैं पूर्ण से भिन्न नहीं हूँ। आनन्दभाव पूर्णता का ही विलास है।

भगवती कार्यकारण–निर्मुक्ता हैं। जैसे मकड़ी स्वयं ही जाल बुनती है और फिर स्वयं ही उसमें उलझ जाती है, वैसे ही मनुष्य नाना प्रकार के तर्कों का जाल बुनता है और फिर स्वयं ही उसमें बँध जाता है। तर्क को वह पूरा सच मान लेता है। तर्क में विराटता नहीं, तर्क निस्सीम नहीं है। मकड़जाल घरों की कोठरियों और कोनों में होते हैं, आकाश में तो होते नहीं। भगवती का आंगन विराट है। देश और काल की सीमा मनुष्य निर्मित है और यह 'सीमाबोध' भगवती की उपासना के मार्ग में पीछे छूट जाता है। भूत, भविष्य, वर्तमान का कालज्ञान सीमा का ज्ञान है। 'निस्सीम के साम्राज्य' में सीमा कहाँ? यहाँ काल की अनन्तता है। युगयुगान्तर–कल्प, कल्पान्तर यहाँ उसी प्रकार आ रहे हैं और जा रहे हैं, जैसे समुद्र में लहरें आती हैं और चली जाती हैं। अन्तरिक्ष की अनन्तता में कोटि कोटि ब्रह्माण्डमंडल त्रसरेणु (सूर्य की किरण को छाया में से देखें, तो छोटे–छोटे सहस्रों अणु घूमते नजर आते हैं, यह त्रसरेणु कहे जाते हैं) की भाँति उदय और अस्त हो रहे हैं। यह सृष्टि–विलास भगवती का महोत्सव है। प्रकृति की सीमा से

बाहर है, यहाँ न सतोगुण है, न रजोगुण है और न तमोगुण है। जो असंभव है, यहाँ वह सब संभव बन रहा है और जो कुछ अलौकिक है, वह सब कुछ यहाँ सामान्य है। यहाँ सब कुछ मंगलमय है, चिन्मय है, करुणामय है, प्रेममय है और दिव्य है।

अभेदभाव : दिव्यभाव

श्रीविद्या उपासना 'अभेदभाव' की उपासना है। भावसाधना, चित्तसाधना, शब्दसाधना, पूजासाधना करते—करते सच्चिदानन्दमय हो जाना, जैसे जलधि में जल की बून्द का समा जाना। देवता होकर देवता की उपासना की जाती है – "देवो भूत्वा देवं भजेत्"। अपनी चेतना को दिव्यस्तर की ओर उठाते—उठाते साधक पहले स्वयं देवरूप बनता है, तत्पश्चात् देवता की पूजा करता है। पूजन की जितनी सामग्री है, पूजा के जितने पात्र हैं और पूजा के जितने साधन हैं, उन्हें मन्त्रों के द्वारा दिव्य और चैतन्य बनाया जाता है। तभी वे साधन और सामग्री पूजा के योग्य बनती हैं। पूजा के पात्रों में सूर्य—चन्द्र और अग्नि की कलादेवियों का आवाहन और पूजन होता है। याग-मन्दिर नित्य भूमि है, दिव्य भूमि है। उसके द्वार पर भद्रकाली, बटुक और गणेश विराजमान हैं। अपने दिव्य रूप में समस्त जड़चेतनात्मक विश्व यागमंदिर में उपस्थित होकर भगवती की पूजा—आरती करता है। विश्व की समस्त दिव्य और मंगलमयी शक्तियाँ पूजा के उल्लास में समारोह करती हैं। वहाँ विश्व की सभी पवित्र नदियाँ, सभी समुद्र, सभी पर्वत, समस्त तीर्थ अपने सूक्ष्म और दिव्य रूप में पधारते हैं। शंख, घंटा, दीपक, कलश, अर्घ्यपात्र, विशेषार्घपात्र आदि सभी देवता ही तो हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र तथा सदाशिव के सिंहासन की रचना की है, दायें—बायें खड़ी होकर सरस्वती और लक्ष्मी चंवर डुला रही हैं तथा आवरण शक्तियाँ संगीत, नृत्य आदि के द्वारा महोत्सव की रचना कर रही हैं। अभेद उपासना का प्रारंभ गुरु से होता है। गुरु से मन्त्र और मन्त्र से देवता तीनों में अभेदभाव और फिर अभेदभाव से ललिता और स्वात्मा में अभेदभाव – "जीवब्रह्मणोरभेद:।" इसे ही 'आत्मलाभ' कहते हैं।

श्रीयन्त्र : पूजन का अधिकार

गुरु में मनुष्यभाव रहेगा, तब तक अभेदभाव की यात्रा प्रारंभ ही नहीं होगी। गुरु के प्रति देवभाव यन्त्र में देवभाव जगायेगा और मन्त्र फिर देवता के साथ अभेद भाव का पोषण करेगा। तर्क चाहे कितने कर लो, परन्तु गुरु का कोई विकल्प नहीं है और गुरु में देवभाव दृढ़ होगा, तभी उपासना का क्रम प्रारंभ होगा। गुरु का वरण करना और मन के संशय को मिटा देना ये दोनों एक

ही बात हैं। गुरु ही प्रमाण हैं, गुरु ही शरण हैं। गुरु का 'शब्द' ही संशय का उच्छेद कर सकता है और विश्वास को जगा सकता है। यदि विश्वास नहीं जागा, यदि संशय नहीं मिटा, तो मानना चाहिये कि अभी गुरु नहीं मिला और पूजन का अधिकार भी नहीं मिला।

श्रीविद्या की उपासना गुप्त से भी गुप्त रखने की परंपरा है। निधि को कुलवधू की भाँति गुप्त रखा जाता है। श्रीविद्या निधि है। यह निधि पुस्तक में छिपे शब्दों में नहीं है। पुस्तक स्थूल है, जड़ है और यह निधि सूक्ष्म है और चैतन्य है। इसलिए वह जीवन की चैतन्य–परंपरा में गतिमान् है। यह निधि गुरु की चैतन्य–जीवन्त परंपरा में ही उपलब्ध है। इसके अलावा और कोई जगह ही नहीं है, जहाँ यह निधि रखी जा सके। करोड़ों रूपये खर्च करके ही सही पुस्तकें और श्रीयन्त्र बाजार से खरीदे जा सकते हैं, परन्तु क्या विश्वास खरीदा जा सकता है? क्या जीवन की परंपरा को खरीदा जा सकता है? जो खरीदी गयी है, वह वस्तु है, भले ही वह कितनी ही बहुमूल्य हो, वह निधि नहीं है। वह जड़ है, चैतन्य नहीं है। उपासकों में कहावत प्रचलित है – "राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी"। राज्य दे दीजिये और आवश्यक हो, तो शिर भी दे दीजिये, पर षोडशाक्षरी श्रीविद्या खरीद–फरोख्त की वस्तु नहीं है और यदि वह खरीदी गयी है, तो वह निधि नहीं है – सीस दिये जो गुरु मिलै तौ भी सस्ता जान।

साम्राज्यदायिनी राजराजेश्वरी के राज में पहुँचना है, तो गुरु से पासपोर्ट लेने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। गुरु का सहज कृपाभाव नहीं मिला है, तो ठहर जाइये। गुरु से अधिकार ले आओ, तभी आगे पढ़ना क्योंकि आगे पढ़ना; तभी सार्थक होगा।

तर्क को दरवाजे पर बाहर छोड़ याग मंदिर में आना, श्रद्धा की अंजलि लेकर अंदर आना और स्वच्छन्द होकर आना। तर्क मन को बाँधता है, मुक्त नहीं करता और विश्वास की शक्ति पक्षी के पंखों की शक्ति है, जिसके सहारे पक्षी अनन्त में स्वच्छन्द विहार करता है और अपने सुरीले रागों से गीतों का आकाश बुन लेता है। सूक्ष्म की अनन्तता में विश्वास का बल ही सहारा देता है।

१८२८ हाऊसिंग बोर्ड कालोनी
सेक्टर १३–१७ पानीपत

तान्त्रिक पूजाओं में श्रेष्ठ-महापूजा

डॉ० श्रद्धा सिंह
व्याख्याता, संस्कृत
आर्यविद्यापीठ स्नातकोत्तर
कन्या महाविद्यालय भुसावर।

तान्त्रिक साधना में पूजा पद्धतियों का विशेष स्थान है। ये पूजा विधियाँ बाह्य द्रव्यों से प्रारम्भ होती हुई साधक के शिव स्वरूप को प्राप्त कराने वाली है। शाक्ततन्त्र में पूजा की उत्तम-मध्यम और अधम– ये तीन श्रेणियाँ हैं, जिन्हें योगिनीहृदयम् आदि ग्रन्थों में क्रमशः परा, परापरा और अपरा कहा गया है। वास्तव में इस क्रम में अपरा पूजा कहीं से भी अधम नहीं कही जा सकती अपितु ये विपरीत क्रम से परा पूजा के अधिकार को प्राप्त करने के लिये सोपान हैं। परा पूजा ही साधक का एकमात्र लक्ष्य है जिसे प्राप्त करना साधारण साधक के लिये कथमपि सम्भव नहीं हैं। जड़ता समाप्त होकर जब साधक को एकमात्र अखण्ड चैतन्य की अद्वैत अनुभूति ही रहती है तब 'शिवोऽहं' यह एकमात्र प्रतीति ही शेष रहती है। परापरा पूजा में अद्वैत की अनुभूति विशुद्ध रूप में नहीं रहती अपितु बाह्य जड़ पदार्थ चिन्मय स्वरूप में लीन हो रहे हैं, ऐसी बाह्य पदार्थों में द्वैत के साथ अद्वैत की भावना रहती है। **पूर्ण अभेद की प्रतीति कराने वाली परापूजा, भेदज्ञान का थोड़ा उपशम करने वाली परापरा तथा पूर्णभेद की प्रतीति वाली अपरा पूजा है।** जो पूजायें फूल द्रव्य आदि बाह्यसाधनों से की जाती है, तन्त्र की दृष्टि में वे अधमाधम ही हैं। कुण्डलिनी जाग्रत हुए बिना अनादि माया के आवरण से ढके जीव को उपरि वर्णित तीनों पूजाओं में से किसी पूजा को करने का अधिकार नहीं है।

तान्त्रिक ग्रन्थों में अपरा पूजा का वर्णन विस्तार से देखने को मिलता है, किन्तु वह **परापरा की स्थिति को प्राप्त कराने का साधन है तो परापरा परापूजा की योग्यता प्रदान करती है। इनमें सर्वश्रेष्ठ परापूजा ही है, जिसमें बाह्यसाधनों की अपेक्षा नहीं रहती।** योगिनीहृदयम् का कथन है–

परा चाप्यपरा गौरि तृतीया च परापरा। ३/२

यह पूजा सर्वश्रेष्ठ बतायी गयी है, क्योंकि परमशिव के साथ अद्वयबोध को जगाने वाली यह पूजा अन्य पूजाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट है। जैसा कि संकेत पद्धति में कहा है–

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या विहिताऽनिशम्।
स्वमहत्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः।।

बाह्य पुष्पादि द्रव्यों की सहायता से जो पूजा दिन रात की जाती है, वह वास्तविक नहीं है। असली पूजा तो वह है जिससे साधक अपने अद्वय रूप में प्रतिष्ठत हो जाय। विज्ञानभैरवकार कहते हैं कि यहाँ पुष्प, धूप, गन्ध आदि बाह्य उपकरणों से पूजा नहीं की जाती किन्तु निर्विकल्पक महाकाश अर्थात् पराचिदाकाश, बोधभैरव के प्रति दृढ़ आस्था ही पूजा है।[1] योगिनीहृदयकार भी कहते हैं– 'प्रभमाद्द्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा'। यहाँ आचार्य ने विज्ञानभैरव को उद्धृत किया है–

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र परावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति।। ११३
यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं त्यज्यते प्रभो।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद् भरिता मतिः।। ११४

जिन परमेश्वर से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है और अन्त में उन्हीं में जाकर लय हो जाता है, वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं। अतः वही पूजन के योग्य है। सृष्टि में उस परमतत्त्व का ही पूजन निरन्तर चल रहा है। यहाँ पर वे परमशि और पराशक्ति के अखण्डरूप में विद्यमान हैं।

परापूजा की विधि –

परापूजा का अनुष्ठान उत्कृष्ट ज्ञानी व्यक्ति के लिये ही है, इसीलिये वह उत्कृष्ट है। इसकी विधि योगिनीहृदयम् में यह कही गई है–

महापद्म वनान्तस्थे वाग्भवे गुरुपादुकाम्।
आप्यायितजगद्रूपां परमामृतवर्षिणीम्।। ३/६
संचिन्त्य।

ब्रह्मरन्ध्र में अधोमुख श्वेतसहस्त्रदल अकुलकमल स्थित है। अनेक दलों से आवृत यह कमलों के वन जैसा प्रतीत होता है, स्वच्छन्दतन्त्र में भी इसका विवरण है। सबसे ऊपर अकुल पद्म स्थित है। यह अधोमुख सहस्त्रदल कमल है, यह श्वेत वर्ण का है, इसमें असंख्य शक्तियों का निवास है, इन सबके बीच में निष्कला शक्ति विराजमान है। व्यापिनी कला यहाँ निरन्तर अमृत वर्षा करती रहती है। यही महापद्मवन ऊर्ध्व सहस्त्रार कमल है, इसके ऊपर समना स्थित है, इसके ऊपर कर्णिका के मध्य में वाग्भव की स्थिति मानी गई है।[2]

परा-पाश्यन्ती मध्यमा और वैखरी नामक वाणियों की त्रिकोण से ही उत्पत्ति होती है।

इसीलिये यह वाग्भव है। इसी त्रिकोण में विश्वगुरु परमशिव की पादुका की भावना करनी चाहिये। इस पादुका के प्रकाश, विमर्श और उनका सामरस्य ये तीन भेद हैं।

स्वप्रकाशशिवमूर्त्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परसस्शिवात्मनोः गुरोः।।

— चिद्विलासस्व–१

इस गुरुपादुका की कृपा से निरन्तर स्निग्धा चन्द्ररश्मि के समान घनीभूत चिद्रस या परमानन्द की धारा बरसती हुई चराचर जगत् को आप्यायित और अनुप्राणित करती है।

गुरुपादुका पूजन के उपरान्त पूजक को प्रसाद ग्रहण करना चाहिये, ऐसी व्यवस्था है।

परमाद्वैतभावनामदघूर्णितः– ३/६ योगिनीहृदयम्

परम अद्वैत की भावना के मद से परिपूर्ण साधक को परमशिव के साथ अद्वैत की प्रतीति होती है। तब 'मैं शिव ही हूँ' यह भावना अनुपम मद को उत्पन्न करने वाली होती है। साधक को चाहिये कि इस भाव को जगाकर इस नशे में ही मग्न हो जाय। इस गुरुप्रसाद का ऐसा माहात्म्य है कि अपने प्रकाशमय स्वरूप के कारण शिवस्वरूप गुरु जिस पर प्रसन्न हो जाता है, जिस शिष्य के मस्तिष्क में अपनी कृपादृष्टि से ज्ञान का प्रकाश फैला देता है, तब ज्ञानचक्षुओं के खुल जाने से वह साधक सभी बाह्यतत्त्वों का शोधन कर परमानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है।[3]

शिवरूपी गुरु स्वप्रकाशरूप से पदार्थमस्तक में जब प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। परमानन्द की प्राप्ति ही इसका स्वाभाविक फल है। अर्थात् परमेश्वर के साथ अद्वैतवाद ही गुरुप्रसाद है। इसे अंगीकार करने पर स्वाभाविक रूप से परमानन्द से समुल्लसित हो जाता है, यही परापूजा का रहस्य है। तब साधक जो भी करता है वह सब शिव की अर्चना स्वरूप ही है–

द्रव्यगन्धसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते
गन्धपुष्पादि गन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम्।
षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते
यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः।। — पूर्वआगमशास्त्र

गुरुप्रसाद के उपरान्त साधक के लिये जप का विधान है–

साधक को चाहिये कि वह दहराकाश के अन्दर ध्वनित हो रहे नाद का सावधानी से श्रवण

करे और सारे जागतिक विकल्प जाल से नाना प्रकार के बाह्य वैखरी वर्णों के उच्चारण से विमुख हो जाय–

दहरान्तरसंसर्पन्नादलोकन्तत्परः।। ६
विकल्परूपसंजल्पविमुखः।। योगिनीहृदयम्

महानारायणोपनिषद् के अनुसार जीव के शरीर के मध्य में स्थित हृदय कमल में विद्यमान परदेवता का निवासस्थान निर्मल आकाश ही दहर है[४], तो छान्दोग्योपनिषद् में भी हृदय पुण्डरीक में दहर नामक आकाश की स्थिति श्रुत है। इस दहर के भीतर उठ रहे नाद को सुनने में साधक को अत्यन्त सावधानी ले लग जाना चाहिये।[५] अम्बास्तव का कथन है–

हे ईश! अनाहत नामक देश में, दहराकाश में तुम्हारा आनन्दमय स्वरूप ही नाद के रूप में परिणत होता है। अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर कुछ विरले योगी ही इस रूप को पहचान पाते हैं। इस नाद में इन्द्रियों की बाहरी वृत्ति को रोक कर आन्तर नाद का उच्चारण किया जाता है। इस आन्तर नाद का उच्चारण ही वास्तविक नाद है। यहाँ नाना उच्चारण एवं बाह्य जाप की आवश्यकता नहीं है।[६]

विज्ञानभैरव इस जाप को स्पष्ट करते हुए कहता है–

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।। विज्ञानभैरव–१४२

शिवदृष्टिकार का कहना है कि 'शिवः सर्वम्' यह भावना ही अनिरुद्ध जप है, यह सभी अवस्थाओं में होने वाला जप है।[७]

जप के समान ही साधक ध्यान भी करे–

अन्तर्मुखः सदा।
चित्कलोल्लासदलितसंकोचस्त्वतिसुन्दरः।। ३/७ योगिनीहृदयम्

साधक सदा अन्तर्मुख रहे अपने चित्कला का उल्लास भरकर संकोच बुद्धि को दूर भगाकर परमसुन्दर बन जाय, मैं भगवती त्रिपुरसुन्दरी से अभिन्न ही हूँ, ऐसी भावना करे।

यहाँ इष्टदेव की साकार मूर्ति की कल्पना का ध्यान नहीं करना है, अपितु साधक को चाहिये कि वह चिन्मय ज्ञानसमुद्र की लहर में विलीन हो जाय और इस तरह वर्ममान सांसारिक संकुचित

स्वरूप के संकट से स्वयं को बचा ले। ऐसा करने से **इदन्ता हटकर** उसकी परिपूर्ण **अहन्ता का विकास हो जाता है** और वह परम सुन्दर बन जाता है। महात्रिपुरसुन्दरी की परमचित्कला के उल्लास से परमशिव स्वरूप में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है तब मैं ही शिव हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा जाग उठती है।

विज्ञानभैरवकार ध्यान को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना।। विज्ञानभैरव– १४३

निश्चल, निराकार, भाँति–भाँति के आकारों की कल्पना से शून्य, विकारों से रहित अर्थात् नाना प्रकार के परिणामों से मुक्त निराश्रय अर्थात् मूलाधार, हृदय, द्वादशान्त आदि स्थानों का सहारा न लेने वाली बुद्धि ही यहाँ 'ध्यान' पद से कही जाती है। शिवदृष्टिकार के मत में जिस जिस अनुभव में 'मैं शिव हूँ ऐसी मन की धारा चलती है, उस अनुभव में उसी प्रकार के चिन्तन का सातत्य उसका ध्यान कहा गया है।[८]

विज्ञानभैरव आदि ग्रन्थों में होम और स्नान का वर्णन भी मिलता है–

महाशून्यलये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा।। विज्ञानभैरव १४६

महाशून्य का चारों तरफ से जिस परतत्त्वात्मक परभैरव वह्नि में विलय हो जाता है, वहाँ पहुँचकर शून्यातिशून्य पदवी की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह पाती, उस बोधभैरव रूप अग्नि में पंचमहाभूत, इन्द्रियगण, अनेक विषय, भुवन तत्त्व आदि संकल्पविकल्पात्मक सकल जगत् के इन विभागों की कल्पना में प्रधान सहायक मन के साथ आहुति दे देना ही वास्तविक होम है। यह अद्भुत हवि भी चितिरूपी पात्र में रखकर दी जाती है। स्वच्छन्दतन्त्र में इसका वर्णन इस प्रकार है–

एवं हृदयाम्बुजावस्थो यष्टव्यो भैरवो विभुः।
सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत्।। २/१५४

यही आन्तर होम कहा जाता है–

मन्त्ररूपी अरणि के मंथन के उद्रेक से उत्पन्न प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की सामरस्य वस्तुमय महाहवि को उन्मनी नाम की स्रुचा में रखकर उसकी बार–बार आहुति दे और इस तरह से साधक सहजानन्द से परिपूर्ण हो जाय।[९]

शिवदृष्टिकार के मत में समस्त पदार्थ शिव के आकार वाले ही हैं और वे शिवस्वरूप अग्नि में अन्तर्भूत हो रहे हैं, यह शिव मैं सुतृप्त हूँ, यह भावना उत्कृष्ट कोटि का होम है।[१०]

विज्ञानभैरव संक्षेप में याग का लक्षण समाधि अवस्था में अनुभूयमान आनन्दजन्य सन्तुष्टि ही याग है–

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।। १४७

सदाचार पद्धतियों में सभी प्रकार की पूजाओं से पूर्व स्नान का विधान है, किन्तु यहाँ निरन्तर अभ्यास से अद्वय सर्वभाव आत्मा के सब तरह से स्वतन्त्र, आनन्द, चिन्मात्र स्वरूप में साक्षात्कार होने पर उसी में समाविष्ट हो जाने की स्थिति को ही स्नान कहते हैं।

पारमार्थिक बोध जग जाने पर और महानन्द के साथ सामरस्य हो जाने पर किस साधन से किसकी पूजा की जायेगी, क्योंकि इन सभी की एकरूपता के कारण इनमें कोई परस्पर भेद नहीं नहीं है–

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वापरापरः।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम्।। वि० भै० १५०

महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या में पृ० १०७ पर प्रभा कौल का श्लोक उद्धृत है, हे सुन्दरि! जब तक उस परम शान्त परमार्थ पद को नहीं जान पाते तभी तक पूजा, जप, ध्यान, होम, लिंगपूजा आदि कर्मकाण्ड किये जा सकते हैं, किन्तु जब उस सर्वाकार निर्विकार, परमतत्त्व का बोध हो जाता है, तब पूजा, जप होम आदि की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।[११] तब तो साधक जो भी कार्य करता है वह सब शिव की आराधना ही है। शिवपूजा मानसस्तोत्र में शंकराचार्य ने इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है–

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोः तवाराधनम्।। शि० पू० मा० ४

हे शम्भो! मेरी आत्मा तुम्हीं हो, मेरी बुद्धि तुम्हारी शक्ति गिरिजा है, मेरे समस्त प्राण तुम्हारे सहचरस्वरूप है, मेरा शरीर ही तुम्हारा मन्दिर है, विषयोपभोग के लिये मेरे जो इन्द्रियव्यापार होते हैं, वही तुम्हारी पूजा है। मेरी जो निद्रा है, वही तुम्हारी समाधिस्थिति है, मेरे पदसंचार तुम्हारी प्रदक्षिणा

है। मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह सब तुम्हारा स्तोत्र है। हे शम्भो! मैं जो कुछ करता हूँ, वह सब तुम्हारी आराधना है।

ऐसे शिवस्वरूप हुए साधक के लिये किसी कर्म की अपेक्षा नहीं रह जाती है। वह सर्वदा परमतत्त्व की पूजा में ही संलग्न है। यही परापूजा का वास्तविक स्वरूप है।

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसार: स्वात्मा हि सर्वत:।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मन: स्नानमीरितम्।। वि० भै० १४९

यहाँ स्नान करने के लिये नदी, तालाब आदि के जल में डुबकी नहीं लगानी है, अपितु यहाँ साधक स्वात्मरूप में डुबकी लगाता है। यह लीनावस्था ही यहाँ स्नान कही जाती है। शिवदृष्टिकार ने इस स्नान का बहुत सुन्दर वर्णन किया है, मन मेरा बन्धन है, न मोक्ष, क्योंकि वे दोनों मल के रूप में हैं, इस प्रकार की भावना से स्नान का नाम निर्मलीकरण है। दु:ख में अथवा सुख में अथवा सभी प्रकार के अनुभवों में 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार मन की प्रसन्नता उत्कृष्ट जलस्नान है। चित् निर्मला है, मैं भी उसी प्रकार का निर्मल विश्वमय हूँ इस प्रकार की विचारधारा से युक्त जल से स्नान शुद्धिस्नान कहा गया है।[१२]

इस प्रकार पूर्ण शिवस्वरूप को पाये साधक के लिये ही इस पूजा का विधान है, तब वह जो भी जिससे भी करता है, वह सब इष्टदेव की पूजा ही है–

इन्द्रियप्रीणनैर्द्रव्यैर्विहितस्वात्मपूजन:। योगिनीहृदयम् ३/८

आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ हैं, इनको प्रसन्न करने वाले द्रव्य विशिष्ट शब्द, स्पश, रूप, रस और गन्ध हैं। इनसे साधक को अपने आत्मारूपी इष्टदेव की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। मुख्याम्नायरहस्यविधि में बताया है– इन्द्रियों के द्वार से, उनकी सहायता से गन्ध आदि विषयों का ही पूजा सामग्री के रूप में संग्रह कर अपनी आत्मा रूपी इष्टदेवता की उपसना करनी चाहिये, ज्ञानी साधक के लिये यही सबसे बड़ी पूजा है, महायज्ञ है।[१३] जग्नि और पान के कारण उल्लास, रस और आनन्द की दशा के अभिव्यक्त होने पर साधक उसमें परिपूर्ण भैरव स्वरूप को देखे, ऐसा करने से वह महानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। यह विज्ञानभैरवकार का इस पूजा के विषय में कथन है–

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्।
भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत्।। वि० भै० ७१

सन्दर्भ

१. पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढ़ा।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।। विज्ञानभैरव १४४

२. यावदूर्ध्वाकुलं पद्मं शक्तिमध्यं यासंख्यशक्तिकम्।
श्वेतं च निष्कला शक्तिमध्यं चासंख्यशक्तिकम्।
व्यापिनी केवला शश्वदमृतौघप्रवर्षिणी।
महापद्मवनं चैव समना तस्य चोपरि।।
तस्यान्तः कर्णिकामध्ये तत्स्थे वाग्भवरूपिणि।। स्वच्छन्दसंग्रह

३. स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति पदार्थमस्तके।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः।। चिद्विलासस्तव–३१

४. दहरं विपाम परवेश्मभूतं हृत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्।। महानारायणेपनिषद् ८/१६

५. दहरोऽसिमन्नन्तराकाशः। छान्दोग्योपनिषद् ८/१/१

६. आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे।
प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः।। अम्बास्तव

७. अनिरुद्धो जपोऽस्त्येव सर्वावस्थास्वसौ जपः।
नानाकारैः सदा कुर्वन्नुदयन् सर्ववस्तुगः।। शिवदृष्टि– ८५

८. यस्यां सत्यां प्रतीतौ तु शिवोऽस्मीति मनोगमः।
तस्यां तथैव चिन्तायां तद्ध्यानमपि जल्पितम्।। शिवदृष्टि ७/८०

९. अहन्तेदन्तयोरैक्यमुन्मन्यां स्रुचि कल्पितम्।
मथनोद्रेकसम्भूतं वस्तुरूपं महाहविः।।
हुत्वा हुत्वा स्वयं चैवं सहजानन्दविग्रहः। योगिनीहृदयम् ३/१०७

१०. सोऽहं शिवः सुतृप्तोऽस्मि होम इत्युदीरितः परः।। शिवदृष्टि ३/१९१

११. न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ। ३/८७
प्रतिपत्त्याऽनया स्नानं निर्मलीकरणं मतम्।
दुःखे वापि मुखे वापि सर्वासु प्रतिपात्तिसु।। ३/८८

शिवोऽस्मीति मनोह्लादो जलस्नानं परं मतम्। ३/८९२

१२. इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैः स्वात्मदेवता।
स्वभावेन समाराध्यां ज्ञातुः सोऽयं महामखः।। मुख्याम्नाय रहस्यविधि

१३. यावत् तत् परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि।
तावत् पूजाजपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम्।।
विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये।
क्व पूजा क्व जपो होमङ्क्व च लिङ्गपरिग्रहः।। पृ० १०७

(ख) ध्यानायासतिरस्कारसिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदाऽस्तु मे।। शिवस्तोत्रावली १७/४

(ग) मलनैलाक्तसंसारवासनवर्तिदाहिना।
ज्ञानदीपेन देव त्वां कदा नु स्यामुपस्थितः।। स्तवचिन्तामणि– ११३

दश महाविद्या एवं स्मार्ततन्त्र परम्परा

डॉ. किशोरनाथ झा

काली नः कुशलं करोतु सततं तारा तनोतु श्रियं
दीर्घायुर्भुवनेश्वरी वितनुतां विघ्नं हरेत् षोडशी।
भैरव्यस्त्वशुभापहा रिपुकुलं सा छिन्नमस्ता हरेत्
मातङ्गी बगलामुखी च कमला धूमावती पान्तु नः।।

पराशक्ति या आदिशक्ति

इस चराचरात्मक संसार के अभिन्न निमित्त–उपादान कारण के रूप में प्रसिद्ध परब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति ही पराशक्ति या आदिशक्ति कहलाती है, जो प्रयोजनवश दस महाविद्याओं के रूप में प्रकट होकर भक्तों एवं साधकों के द्वारा चिकरकाल से आराधित होती आ रही है। वेद, पुराण तथा आगम इस पराशक्ति की महिमा गाते हुए कभी थकते नहीं हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि परब्रह्म की स्वाभावसिद्धा यह पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है। वह ज्ञान, सामर्थ्य और क्रिया स्वरूपा है[१]।

अथर्वशीर्ष उपनिषद् में वर्णित है कि देवताओं ने देवी से उनका परिचय पूछा तो उन्होंने सृष्टि के मूलकारण परब्रह्म के रूप में अपना परिचय दिया और अपने को प्रकृतिपुरुषात्मक, जड़चेतनात्मक इस जगत् के उद्भव का कारण बताया[२]। इसका विस्तृत संवाद या भाष्यात्मक विवरण शाक्त उपनिषद् तथा अथर्वगुह्य उपनिषद् में मिलता है[३]। उभयत्र वाक्यसमूह तथा प्रतिपाद्य एक ही है और वह है परमसत्ता के रूप में शक्ति की अवधारणा। निश्चय ही मूल उपनिषद् के अनुकरणात्मक इन उपनिषदों में ब्रह्म का स्वभाव शक्ति में आरोपित हुआ है। अत मूल उपनिषद् के वचन स्त्रीलिंग में परिवर्तित कर यहाँ रख दिए गये हैं। फलतः इन उपनिषदों की मौलिकता एवं प्राचीनता यद्यपि सन्दिगध है, तथापि परम्परा के संपोषक साधक इन उपनिषदों के प्रति पूर्ण श्रद्धालु तथा निष्ठासंपन्न देखे जाते हैं।

मार्कण्डेय पुराण कहता है कि हे भगवति! आप सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हैं। आपमें सत्त्व, रजस् तथा तमस्– ये तीनों गुण विद्यमान हैं, फिर भी दोषों से आप निर्लिप्त हैं। भगवान् विष्णु तथा शंकर आदि देवगण भी आपका पार नहीं पाते। आप ही सबका आश्रय हैं। यह

सम्पूर्ण संसार आपका ही अंश है, क्योंकि आप सबकी आदिभूता अव्याकृता परा प्रकृति है[४]।

शिवपुराण में भी इसका संवाद मिलता है। यहाँ कहा गया है कि प्रकाश तथा चित् के मिथुन, अर्थात् युगलभाव का तादात्म्य इस संसार का कारण है। इन दोनों में शिव और शक्ति का भाव मानना चाहिए। इन्हीं शिव और शक्ति के संयोग से आनन्द होता है, क्योंकि एक ही परमात्मा शिव और शक्ति के रूप में लोगों के द्वारा देखे जाते हैं[५]।

अभिप्राय है कि शाक्त उपासना का परम लक्ष्य हैं अद्वैत की प्राप्ति, किन्तु शि़व और शक्ति की यामल सत्ता भी यहाँ स्वीकृत है। संसार में विविधता के रहने पर भी मूल में एकता है और एक से अनेक होने के लिए दो की आवश्यकता होती है। उपनिषद् में कहा गया है– ''एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। एकोऽयं बहु स्यां प्रजायेय'' आदि। यह द्वितीय सत्ता शाक्त आगमों की दृष्टि से दो रूपों में प्रकाशित होती है-- एक के साथ उससे भिन्न रूप में तथा एक के साथ उससे अभिन्न रूप में। जहाँ यामल रूप है, मिथुन है, वहाँ बहिरंग शक्ति के रूप में परिचित यह शक्ति भेदमय प्रपञ्च, अर्थात् संसार की सृष्टि करती है और जहाँ अद्वैत है, अर्थात् नीर–क्षीर की तरह अपना अस्तित्व खोकर दोनों सामरस्य भावापन्न हैं, वहाँ अन्तरंग शक्ति के रूप में परिचित यह पराशक्ति अपुनर्भव का दान करती है। यही है शिव और शक्ति की यथार्थ मिथुनता। शाक्त तन्त्रों में बिन्दु का अधिक महत्त्व है, क्योंकि पराशक्ति का आविर्भाव बिन्दु से माना गया है। अत एव महाकालसंहिता बिन्दु, ब्रह्म और गुह्यकाली में अभेद का प्रतिपादन करती है–

बिन्दुः पुल्लिङ्ग उदितो ब्रह्म चैव नपुंसकम्।
स्त्रीलिङ्गा गुह्यकाली च त्रयमेतत् समं मतम्[६]॥

पराशक्ति के विविध रूप

आदिकाल से ही आराधक साधक अपनी क्षमता, रूचि, संस्कार तथा सम्प्रदाय के अनुसार निरकारा नित्स्वरूपा इस पराशक्ति के अननन्त स्वरूपों की कल्पना करके इनमें से किसी एक रूप की उपासना करते आ रहे हैं। अत एव इनकी अनेक संज्ञाएँ तथा अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, जो चिरकाल से पूजित होती आ रही हैं। यही कारण है कि पुराणों तथा आगमों में इनके विविध स्वरूपों की उपासना का विधान है। सृष्टि की मर्यादा के पालनहेतु शिष्टानुग्रह के साथ दुष्टनिग्रह भी अपेक्षित है। दुर्गासप्तशती में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है–

वधाय दुष्टदैत्यानां तथा शुम्भनिशुम्भयोः।
रक्षणाय च लोकानां देवानामुपकारिणी।। (४.४१–४२)

अतः इस पराशक्ति के सौम्य एवं उग्र दोनों स्वरूपों का वर्णन उपलब्ध है। सौम्य स्वरूप की परम अवधि यदि भगवती त्रिपुरसुन्दरी हैं, तो उग्र रूप की परम अवधि भगवती काली[७]।

प्राक्तन संस्कारवश तथा संस्कार के अनुरूप रूचि की अनुकूलता से व्यक्तिविशेष देवताविशेष के प्रति बद्धादर देखा जाता है। विश्वासपूर्वक यथाविधि आराधना करने पर व्यक्ति की वह अपनी इष्टदेवता सभी प्रकार के ऐहिक एवं आमुष्मिक सुख देती हुई उसके जीवन के सफल करती है[८]। इसी क्रम में दस महाविद्याएँ अवतरित होती हैं।

दस महाविद्याएँ

दस महाविद्याओं का सबसे प्राचीन, किन्तु संक्षिप्त उल्लेख शिवमहापुराण में मिलता है। यहाँ रौरव नाम असुर तथा उसकी अक्षौहिणी सेना के संहार हेतु इन दस महाविद्याओं के आविर्भाव की बात कही गयी है। इनकी नामावली इस प्रकार है– काली, तारा, छिन्नमस्ता, कमला, भुवनेश्वरी, भैरवी, वगला, धूमावती, त्रिपुरसुन्दरी तथा मातंगी[९]।

बृहद्धर्मपुराण में भी महाविद्याओं की यही नामावली मिलती है। केवल कमला के स्थान पर षोडशी का उल्लेख है। इनकी इस संख्या के प्रसंग में यहाँ कहा गया है कि दक्ष के यज्ञ में पति के अपमान से रुष्टा भगवती सती ने अपनी विभूति के प्रदर्शनार्थ दस दिशाओं को अपनी भयानक दस मूर्तियों से ढककर भगवान् शंकर को भी विस्मित किया, अत एव महाविद्या की दस संख्या प्रसिद्ध हुई। शिवजी के दसों ओर देवी की भयानक मूतियाँ आविर्भूत हो गयी। उत्तर में काली, ऊपर में तारा, पूर्व में छिन्नमस्ता, पश्चिम में भुवनेश्वरी, दक्षिण में वगलामुखी, अग्निकोण में धूमावती, नैर्ऋत्यकोण में त्रिपुरसुन्दरी, वायुकोण में मातंगी, ईशानकोण में षोडशी (कमला) और अधोभाग में भैरवी विराजमान थीं[१०]।

इस महाविद्याओं के माहात्म्य–वर्णन में यहाँ अभिहित है कि साधकों के लिये मोक्ष एवं वांछित सांसारिक प्रयोजन दोनों ही महाविद्याएँ सिद्ध करती हैं। शाक्त साधकों में प्रसिद्ध इस सूक्ति में इसी का संवाद उपलब्ध है– ''देवीपदाम्भोजयुगार्चकानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव''। अतः इन महाविद्याओं का गोपन अपेक्षित है और प्रकाशन निषिद्ध। देवी ने शिव से वहाँ कहा है कि दिव्य

ज्ञान से आप मुझे इन मूर्तियों में देखें तथा मेरी आराधना के लिए आप स्वयं शास्त्र का निर्माण करें[११]।

बृहद्धर्मपुराण में अभिहित महाविद्या सम्बन्धी सम्पूर्ण आख्यान का स्पष्ट संवाद शाक्त सम्प्रदाय के पुराण महाभागवत में मिलता है[१२]।

महाविद्या की दस संख्या के प्रसंग में कालीकर्पूरस्तोत्र की भूमिका[१३] में कहा गया है कि गणित में जैसे बिन्दु या शून्य का अपना स्वतन्त्र मूल्य कुछ नहीं है, किन्तु जिस किसी संख्या के साथ इसका योग हो जाता है, उसका मूल्य दस गुना बढ़ जाता है। अत एव इस बिन्दु को पूर्णता का प्रतीक माना गया है तथा असीम का द्योतक कहा गया है। इसी तरह निराकार ब्रह्ममयी आदिशक्ति अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति से जुड़कर संसार की सृष्टि, पालन और संहार में लग जाती है। भक्त उपासकों की सभी मनः कामनाएँ पूरी करती हैं। अत एव आदिशक्ति का दस महाविद्याओं में आर्विभाव शून्य या बिन्दु के साथ यथाक्रम एक के योग से उत्पन्न होता है।

तन्त्र–ग्रन्थों में यद्यपि इन महाविद्याओं का परिचय भिन्न–भिन्न रूप से उपलब्ध है, संख्या के प्रसंग में पर्याप्त मतभेद है, तथापि मुण्डमालातन्त्र में निर्दिष्ट नामावली तथा संख्या अधिक मान्य है, जो उपर्युक्त पुराणों में उल्लिखित महाविद्या की सूची में सर्वाशतः समान है। यह नामावली चामुण्डातन्त्र तथा शक्तिसंगमतन्त्र में भी यथावत् उपलब्ध है[१५]। किन्तु यहाँ महाविद्या की अन्य नामावलियाँ भी दी यगी है। विरूपाक्ष में मत में महाविद्याओं की संख्या तेरह कही गयी है। उपर्युक्त महाविद्याओं के साथ चण्डेश्वरी लघुश्यामा तथा त्रिपुटा के योग से तेरह संख्या होती है। दस महाविद्याओं को यहाँ लघु महाविद्या भी कहा गया है।

भैरव के मत में महाविद्या की संख्या सोलह है। वनदुर्गा, शूलिनी, अश्वारूढा, त्रैलोक्यविजया, वाराही तथा अन्नपूर्णा को उपर्युक्त दस महाविद्याओं के साथ जोड़ने पर इनकी सोलह संख्या होती है। महाकाल के मत में इनकी संख्या इक्यावन[१६] है। अवधेय है कि महाकालसंहिता के कामकलाखण्ड में इस संकेत के अनुसार महाविद्याओं का विवरण उपलब्ध है[१७]।

तन्त्रसार में महाविद्याओं की दो नामावलियां दी गयी हैं। एक तो मुण्डमालातन्त्र की है और अपर मालिनीविजयतन्त्र की। दोनों में परस्पर भेद है। मालिनीविजयतन्त्र के अनुसार[१८] काली, नीला (तारा) महादुर्गा, त्वरिता, छिन्नमस्ता, वाग्वादिनी, अन्नपूर्णा प्रत्यंगिरा, कामाख्यावासिनी, बाला तथा शैलवासिनी मातंगी कलियुग में साधकों को पूर्ण फल देने में समर्थ हैं। शाक्तानन्दतरंगिणी के तृतीय

उल्लास में भी यही से यह नामावली संगृहीत है, किन्तु यह अवधेय है कि कश्मीर से प्रकाशित मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में ये पद्य नहीं मिलते है।

मैथिल तान्त्रिक देवनाथ ठक्कुर (खी. १६ श.) कृत तन्त्रकौमुदी में महाविद्या की दो नामावलियाँ[१९] देखी जाती हैं– एक विश्वसारतन्त्र से उद्धृत है और अपर का मूल अनिर्दिष्ट है। एक में ग्यारह महाविद्याओं का उल्लेख हैं, जो मालिनीविजयतन्त्र की नामावली से मिलतीं जुलती है। भेद इतना ही है कि यहाँ प्रत्यंगिरा के स्थान पर महिषमर्दिनी का तथा अतिरिक्त रूप से चण्डिका का उल्लेख है। अपर नामावली में सत्ताईस महाविद्याएँ निर्दिष्ट हैं। तथा– काली, तारा, भैरवी, षोडशी, भुवनेश्वरी, अन्नपूर्णा, महामाया, दुर्गा, महिषमर्दिनी, त्रिपुरा, वगला, छिन्ना (छिन्नमस्ता), धूमा (धूमावती), त्वरिता, मातंगी, धनदा, गौरी, त्रिपुटा, परमेश्वरी, प्रत्यंगिरा, महामाया, भेरूण्डा, शूलिनी, चामुण्डा, सर्वदा, बाला तथा कात्यायनी ये सत्ताईस महाविद्याएँ सभी शास्त्रों में गोपिता हैं।

निरुत्तरतन्त्र में अठारह महाविद्याओं का विवरण उपलब्ध है। प्रसिद्ध दस महाविद्याओं के साथ अन्नपूर्णा, नित्या, महिषमर्दिनी दुर्गा, त्वरिता, त्रिपुरा, त्रिपुटा, जयदुर्गा और सरस्वती– इन आठ विद्याओं के योग से अठारह महाविद्याएँ मानी गयी हैं[२०]। नारदपाञ्चरात्र में सात कोटि महाविद्याएँ तथा इतनी ही उपविद्याएँ वर्णित हैं[२१]।

यहाँ दो बातें अवश्य अवधेय हैं कि युगविशेष में महाविद्या–विशेष को प्रधान माना गया है तथा इन महाविद्याओं में पारस्परिक भेद कल्पित है, यथार्थ नहीं। इसका स्पष्ट प्रतिपादन मुण्डमालातन्त्र में तथा अन्यत्र किया गया है। कृतयुग में भगवती त्रिपुरसुन्दरी प्राधान्य के कारण आद्या पद से अभिहित होती है। इसी तरह त्रेता में भगवती भुवनेश्वरी, द्वापर में भगवती तारा और कलियुग में भगवती काली आद्या पद से अभिहित हुई हैं[२२]।

सिद्धविद्या

साधकों की धारणा रही है कि महाभागवत पुराण में कहा गया है कि चूँकि पराशक्ति के ये स्वेच्छाकल्पित रूप हैं तथा इन रूपों को देखकर स्वयं भगवान् शिव भी मोह में पड़ गये थे, अत एव ये महाविद्याएँ अपने उपासकों की उपासना से प्रसन्न होकर उनकी सभी प्रकार की मन: कामनाएँ शीघ्र सिद्ध करती हैं। अत: सिद्धविद्या के रूप में भी ये प्रसिद्ध हैं।

दूसरी बात यह है कि इन विद्याओं के बीजमन्त्र प्रकारान्तर से या शास्त्रनिर्दिष्ट किसी विशेश प्रक्रिया से सिद्ध नहीं किये जाते, अपितु स्वत: सिद्ध है[२३]।

केवल गुरु से ही इन मन्त्रो का उपदेश अपेक्षित है, अतः सिद्ध मन्त्रों की अधिष्ठात्री ये महाविद्याएँ सिद्धविद्या कहलाती हैं। महाविद्या की नामावली में प्रायः सिद्धविद्या का प्रयोग तन्त्र ग्रन्थों में सर्वत्र हुआ है।

किसी–किसी के मत में काली, तारा तथा त्रिपुरसुन्दरी महाविद्या के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु यह तान्त्रिकों के द्वारा मान्य नहीं है। शक्तिसंगम[२४], चामुण्डा एवं मुण्डमाला तन्त्रों ने सिद्धविद्या और महाविद्याओ को पर्याय के रूप में लिया है,[२५] जो इन दस देवियों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होने वाला पारिभाषिक शब्द है।

विदु धातु से संज्ञा अर्थ में ''संज्ञायां समजनिषदनिपत'' (३.३.९९) आदि सूत्र से क्य प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय किया जाता है और तब विद्या पद निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होता है परम पुरुषार्थ के साथ ऐहिक सुख–समृद्धि का साधन रूप ज्ञान। विद् धातु चार अर्था में प्रसिद्ध है– विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद् सत्तायां तथा विद्लृ लाभे। नागेश भट्ट का मत उद्धृत करता हुआ शब्दकल्पद्रुम कहता है कि परम एवं उत्तम पुरुषार्थ (अपवर्ग) के साधन रूप ब्रह्मज्ञान विद्या पद का अर्थ होता है। यद्यपि तन्त्र ग्रन्थों में मन्त्र अर्थ में भी विद्यापद का प्रयोग हुआ है, क्योंकि ऐहिक काम तथा अपवर्ग का साधन वह होता है, तथापि यहाँ मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता ही विद्या पद से अभिप्रेत हैं। दुर्गासप्तशती की शक्रादिस्तुति में इसका स्पष्ट चित्र हमें मिलता है–

हे देवि! जो मोक्षप्राप्ति का साधन है, अचिन्त्य एवं महाव्रत स्वरूपा है, समस्त दोषों से रहित हे, जितेन्द्रिय तत्त्व को ही सार मानने वाले तथा मोक्ष की इच्छा रखनेवाले मुनिजन जिनका अभ्यास करते हैं, वह भगवती परमा अर्थात् उत्कृष्टा विद्या आप ही हैं[२६]। इन्हीं विद्याओं में उत्कृष्टता के प्राचुर्य से काली, तारा तथा त्रिपुरसुन्दरी आदि महाविद्याएँ कहलाती हैं।

महाविद्याओं का मानव शरीर में अधिष्ठान

तन्त्ररश्मि[२७] नामक पुस्तक में लेखक शाक्तसाधक आशुतोष चौधरी ने तो मानव शरीर को ही इन महाविद्याओं का अधिष्ठान माना है। इनकी दृष्टि में शरीर के नवद्वारों (छिद्रों) की तथा सहस्रार की अधिष्ठात्री होने से पराशक्ति की दस महाविद्याओं के रूप में प्रसिद्ध है। शरीर के नवद्वार रूप में परिचित छिद्रों में सात छिद्र मस्तक में ही विद्यमान हैं– दो कान, दो आँखें, दो नासिकारन्ध्र और मुख। दो छिद्र पायु और उपस्थ शरीर के अधोभाग में अवस्थित हैं। दशवाँ सर्वोत्कृष्ट छिद्र ब्रह्मरन्द्र

नाम से परिचित हैं, जो सबसे ऊपर शीर्ष भाग के सहस्रार में अवस्थित हैं। इन रन्ध्रों की अधिष्ठात्री महाविद्याएँ मानी गई हैं। इन रन्ध्रों के माध्यम से ही मानव के अन्त:स्थित शक्ति का विकास होता है। साधना के क्षेत्र में दाहिने कान का महत्त्व अधिक है, क्योंकि गुरु शिष्य के दक्षिण कर्ण में ही इष्ट मन्त्र का दान करता है। साधक दक्षिण कर्ण के माध्य से ही नादध्वनि सुन पाता है। भगवती काली के अक्षमाला जप के विधान अ से क्ष की ओर गति होती है। वह बाँये से दाहिने की ओर जाती है। दक्षिणा भगवती आद्या का नाम भी है। अत एवं दक्षिण कर्ण की अधिष्ठात्री भगवती आद्या हैं। द्वितीया (तारा) के जपविधान का क्रम इससे विपरीत है। अत एव यहाँ दक्षिण से वाम की ओर गति होती है। यहाँ क्ष से अ की ओर जाना होता है। अत एव तारा का नाम वामा भी है। वाम कर्ण से वह बिन्दु सुनाई देता है, जो नाद के ऊपर विराजमान है। फलत: वाम कर्ण की अधिष्ठात्री देवी द्वितीया (तारा) है। षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी) और भुवनेश्वरी (जगद्धात्री) क्रमश: दक्षिण एवं वाम नेत्र की अधिष्ठात्री हैं। उपर्युक्त चार देवियों का अधिष्ठानं यहाँ मानव शरीर में एक ही सरल रेखा में विद्यमान है। इसके थोड़े से नीचे नासारन्ध्र–युगल है, जहाँ भगवती धूमावती और मातंगी का अधिष्ठान कहा गया है। प्राणायाम में प्रतिष्ठित होने पर आँख और कान क्रियाशील हो उठते हैं। फलत: उक्त चार देवियों की सहायिका के रूप में भी इन दोनों देवियों का परिचय मिलता है। मुख–गह्वर की अधिष्ठात्री भगवती बगलामुखी है। यह वाक्–संयम तथा आहारनियमन में सहायक होती है। वायु की अधिष्ठात्री भैरवी है। यह सुषुम्णा नाड़ी के विकास का पथ निर्माण करती है। इसका नामान्तर गुह्यवासिनी भी है। भगवती कमला दो दोनों ओर से गजयुगल कुम्भों से अमृत सिञ्चन करत रहते हैं। यह कुम्भ–युगल उपस्थ के निकटवर्ती अण्डयुगल का प्रतीक है और यह कमला उपस्थ की अधिष्ठात्री देवी है। इनकी सहायता भगवती छिन्नमस्ता करती है, जो शीर्षस्थ ब्रह्मरन्ध्र की अधिष्ठात्री देवी हैं। वीर्य मस्तिष्क से ही उद्दीपित होकर अण्डद्वय में संचित होता है, यह अनुभवसिद्ध है। किन्तु इस कथन का शास्त्रीय आधार अन्वेषणीय है।

भगवान् विष्णु के दस अवतारों के साथ इन महाविद्याओं का तादात्म्य

शाक्त तन्त्रों में भगवान् विष्णु के प्रसिद्ध दस अवतारों के साथ इन महाविद्याओं के तादात्म्य स्थापन का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि इसकी न तो प्रसंग–संगति दिखाई गयी है और न तो ठोस आधार ही निर्दिष्ट है, साथ ही तादात्म्य स्थापन में तन्त्र–ग्रन्थों में परस्पर वैमत्य भी परिलक्षित होता है, तथापि ''स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'' इस न्याय के आधार पर इस तादात्म्य–स्थापन का एक

उद्देश्य यह हो सकता है कि जैसे शिष्टानुग्रह एवं दुष्टनिग्रह हेतु भगवान् विष्णु को अवतार लेना पड़ा, इसी तरह पराशक्ति भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु दस महाविद्याओं के रूप में अवतीर्ण होकर भगवान् के अवतारों के साथ तादात्म्य का स्थापन किया हो। उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेत हेतु आदिशक्ति की तत्परता का संकेत दुर्गासप्तशती में मिलता है[२८]। दूसरी बात यह हो सकती है कि पौराणिक और आगमिक देवताओं में यथाक्रम प्रधान कृष्ण और काली में अभेद का आरोप भक्तों का, साधकों का अभीष्ट रहा हो। इसकी पुष्टि महाकाल संहिता के इस कथन से होती है कि सम्पूर्ण संसार की स्त्रियों के कामोन्माद के प्रशमन हेतु द्वापर में भगवती काली ने वंशीधारी कृष्ण का रूप धारण किया था[२९]।

महाविद्याओं के आविर्भाव का देश तथा काल

इन महाविद्याओं के आविर्भाव के देश तथा काल का निर्देश अनेक तन्त्रों में मिलता है। यह देश भारतवर्ष के ही प्रान्त–विशेष के रूप में परिचित है तथा काल विविध पारिभाषिक रात्रियों के नाम से प्रसिद्ध है। साधकों के लिये वह स्थान एवं काल अधिक महत्त्वपूर्ण है, जब जहाँ भगवती का आविर्भाव हुआ। शक्तिसंगमतन्त्र के छिन्नमस्ता खण्ड में उन देशों का निर्देश है, जहाँ इन विद्याओं का आविर्भाव हुआ था। यथा अवन्ती में आद्या का, श्रीशैल में (शिवकाञ्ची में) त्रिपुरसुन्दरी का, मेरुगिरि में पश्चिमकूल स्थित चोलह्रद में तारा का, पुष्पभद्रा नदी के तट पर छिन्नमस्ता का, सौराष्ट्र के हरिद्राख्य सिद्धकुण्ड में बगला का, मतंग मुनि के तपःप्रभाव से कदम्ब विपिन में मातंगी का और दक्षप्रजापति के यज्ञ में निर्मित गौरीकुण्ड के धूम से धूमावती का आविर्भाव हुआ[३०]। यहाँ उस काल का विवरण भी अनेकत्र दिया गया है। यथा प्रथम खण्ड के षष्ठ एवं त्रयोदश पटलों के पूर्णाभिषेक प्रकरण में और चतुर्थ खण्ड के पञ्चम तथा षष्ठ पटलों में विशद रूप में देखा जाता है। किन्तु कल्याण के शक्ति अंक में निर्दिष्ट[३१] इन देवियों की आविर्भाव रात्रियों के साथ शक्तिसंगमतन्त्र का मतैक्य नहीं है। प्रतीत होता है कि तन्त्रान्तर से इस शक्ति अंक में इन रात्रियों का विवरण संगृहीत हुआ है। यथा फाल्गुन कृष्ण एकादशी तिथि का पारिभाषिक नाम ''महारात्रि'' है। इसी रात्रि में यहाँ आद्या (काली) का आविर्भाव कहा गया है। इसी तरह क्रमशः चैत्र शुक्ल नवमी ''क्रोधरात्रि'' है। इसमें द्वितीया, अर्थात् तारा का आविर्भाव हुआ। त्रिपुरसुन्दरी का आविर्भाव ''दिव्यरात्रि'' अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को हुआ। भुवनेश्वरी का ''सिद्धरात्रि'' में चैत्र संक्रान्ति के बाद की अष्टमी में, छिन्नमस्ता का ''वीररात्रि'' में कुलाकुलचक्रघटित कुल नक्षत्र से युक्त चतुर्दशी मंगल मकरसंक्रान्ति के मध्य पड़ता हो तो उस समय में, भैरवी का ''कालीरात्रि'' में अर्थात् कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को यदि

अमावस्या का योग हो, धूमावती का ''दारुणारात्रि'' वैशाख शुक्ल तृतीया को यदि कुलाकुल नक्षत्र घटित कुल नक्षत्र का योग हो, वगलामुखी का ''धोररात्रि'' में अर्थात् अगहन कृष्ण अष्टमी को, मातंगी का ''मोहरात्रि'' में अर्थात् भाद्रकृष्ण अष्टमी को और कमला का ''महारात्रि'' में आविर्भाव हुआ। इन रात्रियों का विवरण यहाँ स्वतन्त्रतन्त्र से संगृहीत है। प्राणतोषिणी तन्त्र में उक्त वचन का उद्धरण उपलब्ध है[32]।

महाविद्याओं की उद्भव–कथा, स्वरूप, प्रकार तथा साहित्य

पुराण तथा तन्त्रों में इन महाविद्याओं के उद्भव की रोचक कथाएं मिलती हैं। मार्कण्डेयपुराण में दो स्थलों पर भगवती काली के उद्भव की कथा आयी है–

(क) शुम्भ तथा निशुम्भ द्वारा उत्पीड़ित देवगण हिमालय जाकर महादेवी की स्तुति करने लगे। पार्वती उनके समक्ष आकर पूछने लगी कि आप सब किसकी स्तुति कर रहे हैं। इसी समय पार्वती के शरीर से अम्बिका आविर्भूत हुई और कहने लगी कि देवगण मेरी स्तुति कर रहे हैं। पार्वती के शरीर–कोश से उत्पन्न यह अम्बिका ''कौशिकी'' नाम से प्रसिद्ध हुई। शरीर से इनके निर्गत होते ही पार्वती काली पड़ गयी, वह हिमालय पर रहने वाली ''कालिका'' कहलाने लगीं[33]।

(ख) शुम्भ का आदेश पाकर चण्ड एवं मुण्ड आदि दैत्यगण भगवती अम्बिका को निगृहीत करने के लिये जब सब तरह से उद्यत हुए, तो भगवती अम्बिका क्रोध से काली पड़ गयी[34] और चूँकि इन्होंने चण्ड–मुण्ड का वध किया, अत: ''चामुण्डा'' कहलायी। प्रसिद्ध काली के स्वरूप के साथ इन चामुण्डा भगवती का विवरण सर्वथा समान है। इनके स्वरूप–ज्ञान के लिये दुर्गासप्तशती का सम्पूर्ण अध्याय ही यहाँ अवलोकनीय है।

(ग) प्राणतोषिणीतन्त्र में नागरपञ्चरात्र का वचन उद्धृत करते हुए कहा गया है कि दक्ष प्रजापति के गृह में सती रूप में जिसने जन्म लिया था, उसने अपने पिता दक्ष के प्रति रूष्ट होकर उस शीर का त्याग कर दिया और अप्सरा मेनका को अपने जन्म से अनुगृहीत किया, अर्थात् उसक उदर से जन्म लिया। वही भगवती काली नाम से भी शास्त्रों में प्रतिष्ठित हैं[35]।

(घ) शक्तिसंगमतन्त्र[36] में वर्णित है कि यन्त्र के मध्य में विद्यमान प्रधान बिन्दु से भगवती काली का उद्भव हुआ। अत: यन्त्र की अधिष्ठात्री भी वही कहलाती हैं। कथा इस प्रकार है कि प्रलय के बाद संसार की सृष्टि के लिये भगवान् शिव काली के साथ विपरीत रति में इस तरह से लीन थे कि उनको

अन्य किसी बात का ज्ञान ही नहीं था। उनके पूजन एवं दर्शन हेतु गन्धर्व एवं अप्सराओं के साथ देवगण भी आये और इनकी स्तुति–पूजा करने लगे। उन्होंने कहा कि हे देव! चूँकि आपने प्रलय से इस जगत् की रक्षा की है तथा सृष्टि के लिये तत्पर है, अत एव आपके सामरस्यरूप आनन्द के दर्शनार्थ हम लोग यहाँ उपस्थित हुए हैं। सम्भोग में आसक्त प्रभु का ध्यान टूटा। इन्होंने भगवती काली से कहा कि भगवती आपके दर्शनार्थ ये सुन्दरियाँ यहाँ आयी हैं, इन्हें अपने दर्शन से कृतार्थ कीजिये। भगवती काली इतना सुनते ही वहीं अन्तर्हित हो गयी। फिर उनके दर्शन हेतु प्रभु शिव को वर्षों ध्यान–तपस्या करनी पड़ी। शिव के ध्यान तप से प्रसन्न होकर भगवती ने अनुग्रह किया और शिव को यन्त्रनिर्माण की बुद्धि दी। शिवजी इस यन्त्र की रचना में इस तरह उलझे रहे कि उस यन्त्र से बाहर आने का रास्ता ही इनको भूल गया। एक दिन अकस्मात् उस यन्त्र के मध्य में विद्यमान प्रधान बिन्दु से भगवती काली प्रकट हुई और तब दोनों ही (शिव एवं काली) प्रसन्न हुए।

शाक्त तन्त्रों में भगवती का ध्यान इस प्रकार वर्णित है– करालवदना ऊर्ध्वकेशी, दिगम्बरा मुण्डमालाविभूषिता चतुर्हस्ता निम्न वाम हस्त में सद्यश्छिन्नमस्तक, ऊर्ध्व वाम हस्त में खड्ग, निम्न दक्षिण हस्त में वरमुद्रा, ऊर्ध्व दक्षिण हस्त में अभयमुद्रा। महामेघ की तरह श्यामवर्णा, स्मेरानना, शवरूप शिव के हृदय पर विद्यमान, अर्धचन्द्रतुल्य भालवती, शावकरों से विनिर्मित काञ्चीधारिणी, दोनों कानों में अवतस रूप शव को धारण की हुई, दायें एवं बायें दोनों ओष्ठप्रान्तों से रक्तधारास्राविणी घोरद्रंष्ट्रा, महारावा रक्तस्राविणी मुण्डावलियों की माला को कण्ठ में धारण करने वाली भगवती दक्षिणकाली[३७] कालीतन्त्र में वर्णित है। काली के वाम हस्त में विद्यमान छिन्न मस्तक महामोह का प्रती है और काली के तीन नयन क्रमशः अग्नि, सूर्य और चन्द्र रूप हैं– इसका स्पष्ट संकेत रुद्रयामल में मिलता है[३८]।

तन्त्र–ग्रन्थों में स्वरूपतः एक एवं अद्वितीय अत एव कृष्ण तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्ययुक्ता तथा तुलनीया भगवती काली के अनेक प्रभेद, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता निर्दिष्ट हैं। महानिर्वाणतन्त्र कहता है कि महाप्रभामयी, काल माता तथा रूपरहिता काली की रूपकल्पना उनके गुण एवं क्रिया के अनुसार की गई है[३९]।

तोडलतन्त्र में काली के आठ भेद वर्णित हैं– दक्षिणकाली, सिद्धकाली, गुह्यकाली, श्रीकाली, द्रिकाली, चामुण्डाकाली, श्मशानकाली और महाकाली[४०]।

महाकालसंहिता में इनके नौ प्रकार कहे गये हैं– दक्षिणकाली, भद्रकाली, श्मशानकाली,

कालकाली, गुह्यकाली, कामकलाकाली, धनकाली, सिद्धिकाली और चण्डकाली[४१]।

तन्त्रालोक में भिन्न प्रकार के बारह कालिकाओं के नाम उपलब्ध हैं[४२]। वहीं इनक ध्यान एवं मन्त्र आदि भी दिए गये हैं। व्याख्याकार जयरथ ने इस सबका परिचय विस्तार से प्रस्तुत किया है, किन्तु स्मार्त शाक्त परम्परा में अथवा प्रसिद्ध दस महाविद्याओं के साथ इन कालियों का दूर का भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। तन्त्रालोक का यह प्रकरण प्रायः क्रम–दर्शन से सम्बद्ध है।

ज्ञातव्य है कि जैसे युग–विशेष में महाविद्या–विशेष के प्राधान्य का उल्लेख तन्त्र–ग्रन्थों में मिलता है[४३], वैसे ही देश–विदेश में महाविद्या–विशेष की उपासना का प्राचुर्य व्यवहार में तथा नेपाल में दीर्घकाल से भगवती आद्या (काली) तथा द्वितीया (तारा) की प्रमुख रूप से उपसना प्रचलित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य महाविद्याओकी यहाँ उपेक्षा देखी जाती है, किन्तु उक्त दोनों की उपासना के प्राचुर्य में तात्पर्य है। इसका स्पष्ट परिणाम हम देखते हैं कि आसाम में कालिकापुराण का प्रणयन हुआ। बंगाल में स्वनामधन्य महानैयायिक गदाधर भट्टाचार्य, श्रेष्ठ साधक रामप्रसाद कमलाकान्त तथा रामकृष्ण परमहंस आदि ने भगवती काली की उपासना से सिद्धि पायी। मिथिला राज्योपार्जक नैयायिकवरेण्य महेश ठक्कुर ने आद्या की उपासना से राज्यलाभ के साथ निर्मल वैदुष्य तथा धवल कीर्ति का अर्जन किया। इस शताब्दी में भी इनके वंशधर महाराज रामेश्वर सिंह मिथिला नरेश ने परम्पराप्राप्त उपासना के बल पर अनेक सिद्धियाँ पायी और कमला नदी काली की प्रबल वेगधारा को वर्षाकाल में अपने अनुष्ठान से मोड़ दिया। इनकी निर्मापित दस महाविद्याओं की एवं महाकालसंहिता के अनुसार गुह्यकाली की प्रतिमाएँ यथाक्रम राजनगर एवं भौरागढ़ी (मधुबनी, बिहार) में पूजित आदृत विराजमान हैं। नेपाल में महाकाल संहिता जैसे विशाल तान्त्रिक ग्रन्थ का निर्माण एवं प्रचार हुआ। उक्त संहिता की पुष्पिका में स्पष्ट कहा गया है– ''लिखितमिदं भक्तपट्टे''। भक्तपट्टन नेपाल में आज भी वर्तमान एवं प्रसिद्ध है। इस संहिता में स्मार्त शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार उपासनाविधि का सांगोपांग विवरण उपलब्ध है। तथा इस सम्प्रदाय के प्रति विशेष पक्षपात **यहाँ देखा** जाता है। इस प्रसंग के संक्षेप में परिचय हेतु केवल दो पद्य यहाँ उल्लेख योग्य हैं–

''श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म देव्युपासनमेव च।
उभयं कुर्वते देवि मदुदीरितवेदिनः।।
अतोऽदः श्रेष्ठमन्येभ्यो मन्येऽहमिति पार्वति[४४]।
वेदाविरुद्धं कुर्वन्ति यद् यदागमचोदितम्।
आगमादेशितमपि जहति श्रुत्यचोदितम्[४५]''।।

अत एव यहाँ चार वामाचारी तान्त्रिक सम्प्रदायों का उल्लेख एवं आलोचन के साथ अपेन सम्प्रदाय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है। यहाँ कहा गया है कि कापालिक, मौलेय, दिगम्बर तथा भाण्डिकेर क्रमशः डामर, भैरवसंहिता तथा शाबरतन्त्र के अनुसार देवी के आराधक अपने निन्द्य आचरण के कारण सर्वथा आलोच्य एवं स्मार्तों के लिये वर्ज्य हैं[४६]।

लगभग चौबीस सहस्र पद्यों में उपनिबद्ध इस संहिता में काली की उपासना विषयक यावतीय विधियों एवं विधानों का संकलन हुआ है। काली के प्रभेद, उनके स्वरूपों का विवरण, माहात्म्य, सिद्ध उपासकों की नामावली, अथर्वगुह्य उपनिषद्, अनेक दुर्लभ मन्त्रों का उद्धार, अनेक धारणीय एवं पूजनीय यन्त्रों के स्वरूप, मूर्तिभेद के कारण इनके तान्त्रिक गायत्रियों के प्रकार, कवच, सहस्रनाम, सुधाधारा, सिद्धितत्त्व तथा कालीभुजंगप्रयातस्तोत्र, अनेकों न्यास एवं न्यास–विशेष लघुषोढा, महाषोढा तथा षोढा, उपचारों के भेद से पूजा में पौराणिक किन्तु प्रासंगिक अनेक उपाख्यान, आवतरणपूजा, बिन्दुपूजा तथा शक्तिपूजा आदि विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हैं।

इन महाविद्याओं के उत्कर्ष प्रदर्शनार्थ यहाँ कहा गया है कि षडाम्नाय की देवियाँ कदाचित् ही सभी समयों में सब प्रकार का फल देने में समर्थ हैं। कोई यदि सत्य युग में फलप्रदा होती हैं, तो कोई त्रेता में, कोई द्वापर में फलदा होती हैं तो कोई कलियुग में। किन्तु महाविद्याएँ चारों युगों में समान रूप से फलप्रदा होती हैं। इन दसों में भी काली, तारा और त्रिपुरसुन्दरी विशिष्ट हैं[४७]।

कुब्जिकातन्त्र में तो इससे अधिक ही इनके माहात्म्य निर्दिष्ट है। ये महाविद्याएँ उपासिता होने पर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष–इन चतुर्वर्गों को अवश्य देती हैं तथा कलियुग में भी पूर्ण फल प्रदान करने में समर्थ हैं। एक बार भी इन महाविद्याओं के नामोच्चारण या मन्त्रोच्चारण से जीव सर्वविध पापों से मुक्त हो जाता है[४८]।

विष्णुक्रान्ता क्षेत्र की यह दीर्घकालिक परम्परा रही है कि प्रायः वैदिक, पौराणिक और आगमिक दीक्षा अवश्य प्रत्येक द्विज लेता रहा है। मिथिला में पौराणिक दीक्षा का प्रचार या परम्परा प्रायः नहीं है, किन्तु स्मार्त शाक्त परम्परा में निर्दिष्ट अकडमचक्र, अकथहचक्र या सिद्धादिचक्र द्वारा ग्राह्य शाक्त मन्त्र का निर्धारण कर दस महाविद्याओं में से किसी एक देवता के मन्त्र की दीक्षा अवश्य ली जाती है। उपनयन संस्कार की तरह यह अवश्य कर्तव्य होता है। कुल–विशेष में देवताविशेष का मन्त्र परम्परा से कुल के प्रत्येक सदस्य के लिए मान्य तथा ग्राह्य होता है। यहाँ सिद्धादिचक्र द्वारा

मन्त्रनिर्धारण की प्रक्रिया नहीं अपनायी जाती। इसे लौकिक मन्त्र कहते हैं।

दीर्घ काल से मिथिला में कुलदेवता के रूप में भी दस महाविद्याओं में से किसी एक देवता की स्थापना होती आ रही है। इनमें भी दक्षिणकाली, तारा तथा त्रिपुरसुन्दरी का ही प्राधान्य है। यही कारण है कि इस विष्णुक्रान्ता क्षेत्र में आधुनिक काल में दस महाविद्याओं की आराधन–विधि के प्रचारार्थ अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। बंगाल में खिष्टीय षोडश शतक के आस–पास की कृति रघुनाथ तर्कवागीश प्रणीत आगमतत्त्वविलास, यदुनाथ शर्मा की आगमकल्पवल्ली तथा अन्य किसी साधक की कृति आगमचन्द्रिका में इन दस महाविद्याओं की विस्तृत उपासनापद्धति निर्दिष्ट है। इसी क्रम में तन्त्रसार तथा प्राणतोषिणी तन्त्र का प्रणयन हुआ। मिथिला में शाक्तप्रमोद तथा राजनाथ मिश्रकृत तन्त्राह्निक का अधिक प्रचार हुआ एवं नेपाल में विशाल ग्रन्थ पुरश्चर्यार्णव का निर्माण हुआ।

काली से संबद्ध साहित्य

काली विद्या विषयक साहित्य का परिणाम इतना अधिक है कि सबका संकलन सीमित स्थान एवं काल में सम्भव नहीं है। काली की उपासना से संबद्ध उपनिषद्, सूत्र, मूलतन्त्र, सारसंग्रह, संहिता, स्वतन्त्र निबन्ध तथा पूजापद्धतियाँ उपलब्ध हैं। यथामति उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है। **काली–उपनिषद्, बह्वृचोपनिषद् अथर्वशीर्ष उपनिषद् अथर्वगुह्योपनिषद्** आदि उपनिषद् प्रकाशित एवं प्रचारित हैं, जहाँ परा देवी एवं काली के प्रसंग में विवरण उपलब्ध है। कालज्ञानतन्त्र तथा कालोत्तरपरिशिष्ट काली उपासना का प्राचीन ग्रन्थ है। क्षेमराज ने साम्बपञ्चाशिका की टीका में इसका उल्लेख किया है। विमलबोधकृत कालीकुलक्रमार्चन, भद्रकालीचिन्तामणि, कालीकल्प, कालीसपर्याक्रमकल्पवल्ली, कालविलासतन्त्र, कालिकार्णव, कालीकुलसर्वस्व, कुलमूलावतार, कालीकुलतन्त्र, काशीनाथ तर्कालकारभट्टाचार्यकृत श्यामासपर्या, कालिकार्चामुकुर, शक्तिसंगमतन्त्र का कालीखण्ड, भैरवीतन्त्र का कालीमाहात्म्य, महाकालसंहिता का गुह्यकाली तथा कामकलाखण्ड, कुलार्णवतन्त्र, कारणागमतन्त्र, कालीतन्त्र, कालिदासकृत चिद्गगनचन्द्रिका, पुरश्चर्यार्णव का नवम तरंग, विश्वसारतन्त्र, कृष्णानन्द आगमवागीश कृत तन्त्रसार, प्राणतोषिणीतन्त्र, शाक्तप्रमोद तथा तन्त्राह्निक आदि ग्रन्थों में काली की उपासनाविधि विस्तार या संक्षेप में वर्णित है।

इनके अतिरिक्त मार्कण्डेयपुराण का देवीमाहात्म्य, देवीपुराण, कालिकापुराण, भविष्यपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि में भी भगवती आद्या का माहात्म्य एवं उपासनाविधि प्रतिपादित है[४१]।

यहाँ यह भी अवधेय है कि प्राचीन तन्त्रों में अनभिहित, किन्तु शताधिक वर्षो से प्रचलित बंगाल में तीन दिन—दीपावली कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, माघ कृष्ण चतुर्दशी तथा रटन्ती चतुर्दशी के रूप में प्रसिद्ध ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी को भगवती काली की पूजा अवश्य अनुष्ठित होती है। मिथिला में केवल दीपावली की रात में काली की उपासना प्रचलित है। उड़ीसा का विरजा देवी का क्षेत्र पड़ोसी प्रान्त बंगाल की परम्परा से ही प्रभावित प्रतीत होता है। बंगाल में कालीतन्त्र के अनुसार ही आज पूजा अनुष्ठान प्रचलित है और मिथिला महाकालसंहिता से प्रभावित है।

तारा की उद्भव—कथा

भगवती तारा द्वितीया पद से भी तन्त्रों में परिचित हैं। चूँकि काली और तारा में नाम मात्र का भेद है, दोनों वास्तविक अभेद ही है, अत: उपर्युक्त विष्णुक्रान्ता क्षेत्र में ही इनकी उपासना की प्रचुरता देखी जाती है। आद्या और द्वितीया में अभेद की बता शक्तिसंगमतन्त्र के सुन्दरी खण्ड में (४ ५१ एवं ६.१२–१४) तथा मुण्डमालातन्त्र (१.१५) में कही गयी है।

इनके आविर्भाव के प्रसंग में बताया गया है कि ब्रह्माण्ड में स्थावर एवं जंगम पदार्थो के नष्ट हो जाने पर चतुर्भुज भगवान् विष्णु स्वयं उद्भूत हुए और उनकी नाभि से चतुर्मुख ब्रह्मा का तथा ललाट से भगवान् रुद्र का आविर्भाव हुआ। ब्रह्मा ने विष्णु से पूछा कि किस विद्या की आराधना से चारों वेदों का कथन संभव होगा, तो भगवान विक्ष्णु ने शंकर से उत्तर की जिज्ञासा की। भगवान् शंकर ने महानील सरस्वती का नाम सुझाया।

भगवती नीलसरस्वती मेरुगिरि के पश्चिम तट में चोल नामक महाह्रद से उद्भूत हुई। भगवान् शिव मेरुगिरि की चोटी पर जब तीन युगों तक तपस्या में लीन रहे, उनके ऊर्ध्व मुख से भगवान् विष्णु की तेजोराशि निर्गत होकर उस चोल ह्रद में जा गिरी और वह ह्रद नील वर्ण का हो गया। वही तेज:पुञ्ज भगवती नीलसरस्वती के नाम से विख्यात हुआ। उस ह्रद के उत्तर भाग में एक ऋषि रहते थे, उनका नाम अक्षोभ्य था। वह यथार्थत: शिव ही थे। चूँकि सबसे पहले इस ऋषि ने ही इनकी आराधना एवं जप किया था, अत एव इस देवी के ऋषि यही (अक्षोभ्य) माने गये। यही भगवती जल से आप्लावित विश्व में, अर्थात् प्रलय काल में चीन देश में महोग्रतारा नाम से आविर्भूत हुई, जो वस्तुत: चित्रभारूपा है।

तन्त्रशास्त्र में चैत्र शुक्ल नवमी को क्रोधरात्रि कहा गया है और इसी रात्रि में भगवती तारा का

आविर्भाव माना गया है। महाकालसंहिता में इनके प्रसिद्ध तीन भेदो– एकजटा, उग्रतारा और **नीलसरस्वती** का स्पष्ट निर्देश है[५०]।

भगवती मुक्तकेशी के सिर पर जटा रूप में भगवान् शिव स्वयं विराजमान थे, अत एवत **एकजटा** नाम से वह ख्यात हुई। भगवती उग्रतारा आपत्तियों से प्राणियों का उद्धार करती है, अत एव **उग्रतारा** कहलाती है। चूँकि वेदों के कथन में ब्रह्मा की सफलता इन्हीं की आराधना से सम्भव हुई, अतः **नीलसरस्वती** भी इसका नाम हुआ। मिथिला में एक विशेष धारणा है कि सरस्वती के प्रभेद के रूप में प्रसिद्ध भगवती तारा के उपासक सविद्य ही होते हैं, अविद्य (मूर्ख) नहीं। यदि इन्होंने साधना पक्ष को सविधि सम्पन्न किया तो वैदुष्य की प्रसिद्धि से भी प्रतिष्ठित होते हैं। धन आदि के अभाव में भी वैदुष्य के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा अवश्य मिलती है।

यद्यपि इनकी उपासना–विधि अनेक तन्त्रों में वर्णित है, तथापि उनमें प्रसिद्ध एवं मुख्य तन्त्र ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं– **तारातन्त्र (तारिणीतन्त्र), तारासूक्त, तोडलतन्त्र, तारार्णव, महानीलतन्त्र, नीलतन्त्र, नीलसरस्वतीतन्त्र, चीनाचारतन्त्र, तन्त्ररत्न, तारोपनिषत्, एकजटाकल्प, ब्रह्मयामल के अन्तर्गत महाचीनाचारक्रम, एकवीरतन्त्र तथा तारिणीनिर्णय** आदि। इसी तरह प्रकरण ग्रन्थों में लक्ष्मणभट्टकृत **ताराप्रदीप,** नरसिंह ठक्कुर कृत **ताराभक्तिसुधार्णव,** आगमाचार्य शंकरकृत **तारारहस्य** तथा इसकी वृत्ति, प्रकाशानन्द कृत, विमलानन्द कृत तथा काशीनाथ कृत तीन **ताराभक्तितरंगिणी,** नित्यानन्द कृत **ताराकल्पलतापद्धति** तथा विद्वदुपाध्याय कृत **तारिणीपारिजात** आदि इनकी उपासना विधि के लिए द्रष्टव्य हैं।

यहाँ यह अवधेय है कि विद्या की अधिष्ठात्री पौराणिक देवता सरस्वती का ही आगमिक रूप तारा या नीलसरस्वती है तथा वेदों के रथार्थ ब्रह्मा द्वारा उपासिता हुई है, अत एव इनका उपासक विद्वान् अवश्य होता है। मिथिला में इस प्रवाद के साथ इसके निर्दशन रूप में म.म.डॉ. सर गंगानाथ झा तथा म.म. बालकृष्ण मिश्र का उल्लेख किया जाता है।

इनके ध्यान में कहा गया है कि प्रत्यालीढपदा भगवती तारा शव पर विराजमान है। भयंकर अट्टहास कर रही हैं। चार भुजाओं में क्रमशः खड्ग, कमल, कत्ता और खर्पर विराजमान है। हूँकार से इनका उद्भ्व हुआ है। यह खर्वा (छोटे कद की) है तथा विशालपिंगल वर्ण के नागों से जटाजूट को बाँध लिया है। समपूर्ण विश्व के जाड्य को अपने खर्पर में रखकर नष्ट करती हैं[५१]।

डॉ. सर गंगानाथ झा वंशपरम्परा से भगवती तारा के उपासक थे। इनकी कुलदेवता एवं इष्टदेवता दोनों ही भगवती तारा ही रही है। इनके मूल निवास स्थान महिषी ग्राम (बिहार के सहरसा मण्डल का गाँव) भगवती तारा के सिद्धपीठ के रूप में चिरकाल से प्रसिद्ध है, जहाँ उपर्युक्त ध्यान के अनुकूल भगवती की प्रस्तरमूर्ति आज भी सविधि पूजित होती आ रही है। बंगाल के प्रसिद्ध तारापीठ में जो तारा की प्रतिमा है, वह उपर्युक्त ध्यान से भिन्न है। यहाँ भगवती तारा की गोद में शिशु शिव स्तनपान करते हुए देखे जाते हैं। इसका शास्त्रीय मूल अन्वेषणीय है। सिद्धपीठ के रूप में प्रसिद्ध इस स्थान का माहात्म्य तो इसी से मान्य है कि वामाखेपा नामक सिद्ध ने यही सिद्धि पाई थी। इसी तरह वाराणसी के नेपाली खपरा महल्ला में विद्यमान तारा मन्दिर की प्रतिमा उपर्युक्त ध्यान से मिलती नहीं है, तथापि तारिणीतन्त्र में निर्दिष्ट इनके[47] अपर ध्यान के अनुसार संभव है उक्त प्रतिमा का निर्माण हुआ हो, तथापि शास्त्रीय आधार अन्वेषणीय है। मिथिला के मर्मज्ञ तान्त्रिकों के परामर्श से इस शतक के आरंभ में पुण्यश्लोक किसी मैथिल रानी द्वारा यह प्रतिमा स्थापित है। अत: इसका शास्त्रीय आधार अवश्य रहा होगा। आसाम के गौहाटी क्षेत्र में भगवती कामाख्यापीठ के निकट उग्रतारापीठ तो चिरकाल से प्रतिद्ध है।

यही एक ऐसी भगवती हैं, जिनका आदर साक्षात् या परम्परया बौद्ध एवं जैन सम्प्रदाय में भी मिलता है। इनके भैरव अक्षोम्य को बौद्ध उपासकों ने भगवान् बुद्ध मानकर इनको अपनी विशिष्ट देवता के रूप में स्वीकार किया है। तारा की उपासना से संबद्ध ग्रन्थ बौद्ध परम्परा में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

लगता है कि इस अक्षोम्य भैरव के व्युत्पत्तिनिमित्ति एवं प्रवृत्तिनिमित्त मूलक अर्थ के समन्वय में बौद्ध एवं सनातन परम्परा की खींचातानी का परिमाण ही कुमारसंभव का यह पद्य कालिदास की लेखनी से उद्भूत हुआ है–

''विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा:''

सनातन सम्प्रदाय के अक्षोभ्य भगवान् शिव ही हैं, जो विष पीकर भी क्षुब्ध नहीं हुए और कामदेव द्वारा मनोविकार के कारणों के प्रस्तुत करने पर स्वयं उसे ही भस्मसात् किया, किन्तु स्वयं क्षुब्ध नहीं हुए।

दार्शनिक श्रेष्ठ गोकुलनाथ उपाध्याय के चचेरे भाई ख्रिष्टीय सप्तदश शतक के सिद्ध महात्मा मैथिल मदन उपाध्याय तारा के उपासक रूप में प्रसिद्ध हुए हैं। जनश्रुति है कि इन्होंने किसी से कहा

था–

अनवद्ये यदि गद्ये पद्ये शैथिल्यमावहसि।
तत्किं त्रिभुवनसारा तारा नाराधिता भवता।।

उपर्युक्त ध्यान के अनुकूल इनकी इष्टदेवता की प्रतिमा इनके वंशधर के पास आज भी सुरक्षित है।

त्रिपुरसुन्दरी के पर्यायनाम, व्युत्पत्ति तथा साहित्य

महाविद्याओं में प्रधान भगवती त्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्या, षोडशी तथा त्रिपुरा नाम से भी अभिहित हुई है। कुब्जिकातन्त्र में निर्दिष्ट है कि धन तथा सर्वविध सम्पत्ति देने में औदार्य के कारण श्रीविद्या नाम से और निर्गुणा होने से षोडशी नाम से इन्हीं को पुकारा जाता है[५२]। त्रिपुरा पद का अभिप्राय कालिकापुराण में इस प्रकार वर्णित है– चूँकि देवी का मण्डल त्रिकोणों से बनता है, भूपुर में तीन रेखाएँ होती हैं, मन्त्र में तीन अक्षर है, उनके तीन स्वरूप है और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश रूप त्रिदेव की सृष्टि हेतु तीन प्रकारों की कुण्डली शक्तियाँ इनकी प्रसिद्ध हैं, अत: यह त्रिपुरा नाम से ख्यात हैं[५४]। कामकलाविलास में त्रिपुरा पद का अर्थ कुछ तात्त्विक भेद के रहने पर भी आपातत: अभिन्न प्रतीत होता है। यहाँ माता, मेय और मान रूप पदार्थत्रय, रक्त, शुक्ल और मिश्र रूप त्रिविन्दु: सोम, सूर्य और अग्नि रूप त्रिधाम, कामरूप, पूर्णगिरि तथा जालन्धर रूप त्रिपीठ, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप त्रिशक्ति, बाण, इतर और पर रूप त्रिलिंग, अ, क और थ रूप त्रिधा भिन्न तीन मातृकाएं आदि त्रिक–विद्या से सांसारिक प्रपञ्चों के आविर्भाव एवं तिरोभाव की भूमि, अर्थात् आधार स्वरूपा यह पराशक्ति ''त्रिपुरा'' कहलाती है[५५]। प्रपंचसार में भगवान् शंकराचार्य ने इस प्रसंग में कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिमूर्ति की सृष्टि के कारण त्रयी, अर्थात् वेदस्वरूपा होने के कारण तथ प्रलय में तीनों लोकों को अपने में समा लेने के कारण प्राय: अम्बिका का त्रिपुरा नाम हुआ[५६]।

नारदपञ्चरात्र के अनुसार काली ही त्रिपुरसुन्दरी है। इनकी उद्भवकथा इस प्रकार है– स्वर्ग की अप्सराएँ कैलास पर्वत पर शिव के दर्शनार्थ आयी। शिव ने उनके समक्ष भगवती को काली कहकर संबोधित किया। इससे भगवती को लज्जा हुई। इन्होंने सोचा कि काली रूप का त्याग कर परम सुन्दर रूप धारण करूँगी और इसके लिए उसी समय वह अन्तर्हित हो गई। अब शिव अकेले रहने लगे। इस बीच देवर्षि नारद शिव से मिलने आये। शिव को एकको देशकर देवर्षि ने पार्वती की जिज्ञासा की। उनके नहीं मिलने पर ध्यानस्थ ऋषि ने सुमेरु पर्वत पर देवी को ध्यानमग्न देखा। वहीं पहुँचकर

नारद जी देवी की स्तुति करने लगे। वार्ताक्रम में नारद से यह जानकर कि शिव विवाह के इच्छुक है, सुन्दरतम रूप धारण कर देवी क्षणमात्र में शिंव के निकट पहुँच गयी। शिव के स्वच्छ हृदय में अपने सौन्दर्यमयी छवि के प्रतिबिम्ब को अन्य स्त्री मानकर देवी शिव को उपालम्भ देने लगी। शिव ने कहा देवि! ध्यान से देखो, मेरे हृदय में तुम्हारी ही प्रतिच्छवि है। भगवती पुनः ध्यान से देखती हुई वस्तुस्थिति से अवगत होकर शान्त हुई[५७]। इसके सारांश का संवाद शक्तिसंगमतन्त्र में भी मिलता है[५८]। यहाँ यह भी कहा गया है कि शिवाकाञ्ची में श्रीशैल पर्वत पर महानिशा में श्रीविद्या, अर्थात् त्रिपुरसुन्दरी उद्भूत हुई[५९], किन्तु आगे वर्णित है कि शिव ने कहा कि तीनों भुवनों में लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी होने के कारण तुम त्रिपुरसुन्दरी नाम से और सोलह वर्ष की बाला की तरह प्रतीत होने के कारण षोडशी नाम से भी प्रसिद्ध होओगी[६०]।

ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान के अनुसार भण्डासुर के वधहेतु चिद्रूप अग्नि से उद्भूता भगवती पराशक्ति ने ऐसा उत्कृष्ट मोहिनी रूप धारण किया कि वह त्रिपुरसुन्दरी कहलाने लगी। चूँकि इन्होंने सदाशिव का मन बहलाया, अतः ललिता और विधाता ने भक्तिपूर्वक इनका ध्यान किया, अतः कामाक्षी कहलायी[६१]।

यहाँ प्रतिपादित है कि भारत में इस महिमामयी भगवती के बारह रूप प्रसिद्ध हैं– काञ्ची में कामाक्षी, मलयगिरि में भ्रामरी, केरल मलावार में कुमारी (कन्या), आनर्त गुजरात में अम्बा, करवीर में महालक्ष्मी, मालव में कालिका, प्रयाग में ललिता, विंध्याचल में विन्ध्यवासिनी, वाराणसी में विशालाक्षी, गया में मंगलचण्डी, बंगाल में सुन्दरी और नेपाल में गुह्येश्वरी[६२]।

यहाँ यह अवधेय है कि अनादि काल से इनकी उपासना का प्रसार सम्पूर्ण भारतवर्ष मे देखा जाता है। भगवान् आदि शंकराचार्य का योगदान भी इस प्रसंग में यहाँ उल्लेखनीय है। इनके द्वारा स्थापित सभी मठों में– बदरिकाश्रम, पुरी, द्वारका, शृंगेरी तथा काञ्ची में श्रीविद्या की उपासना और श्रीयन्त्र की स्थापना अवश्य देखी जाती है, जो आदिकाल से परम्पराक्रम से विद्यमान है। इनके पूर्व भी इस पराशक्ति की पूजा अवश्य प्रचलित रही है, अत एव आदि शंकराचार्य के गुरु गौडपादाचार्य ने श्रीविद्यारत्नसूत्र और सुभगोदयस्तोत्र का प्रणयन कर इस देवी (पराशक्ति) की उपासनाविधि एवं माहात्म्य प्रतिपादित किया। उक्त सूत्र शंकरारण्यकृत दीपिका टीका के साथ काशी सरस्वती भवन से प्रकाशित है। उनके समक्ष भी इनकी उपासना की पूर्वतः मान्य आदर्श परम्परा रही होगी। तभी वे प्रभावित होकर इधर प्रवृत्त हुए होंगे।

आदि शंकराचार्य ने तो प्रपञ्चसार नामक ग्रन्थरत्न का प्रणयन कर आगमिक उपासना की विशद एवं विस्तृत पद्धति प्रस्तुत की है। साथ ही सौन्दर्यलहरी तथा आनन्दलहरी में भगवती की स्तुति के व्याज से शाक्त दर्शन के गूढ रहस्य, उपासना की विधि, देवी के माहात्म्य आदि विविध तान्त्रिक विषयों का समावेश किया है। अत एव इसकी अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें लक्ष्मीधर (ख्रि. १४श.) की व्याख्या अधिक विख्यात है। आदि शंकराचार्य की कृति ललितात्रिशतीभाष्य भी प्रसिद्ध है।

स्वनामधन्य म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज ने तान्त्रिक साहित्य की भूमिका में इस प्रसंग में पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसके अनुसार त्रिपुरा के उपासकों में सर्वत्र काम या मन्यथ का प्राधान्य रहा है। विद्या केप्रवर्तक होने के कारण ये विद्येश्वर कहे जाते हैं। भगवती की कृपा से विद्याप्रवतक काम की तरह अन्य बारह विद्येश्वरों के नाम तन्त्र–ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। यथा–मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त्य, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और क्रोधभट्टारक या दुर्वासा[६३]। इन लोगों को भगवती के अनुग्रह से अलग–अलग फल मिले हैं। अतः इनकी मुख्य विद्याप्रवर्तक माना गया है। यद्यपि अन्यान्य बीज–मन्त्रों की उपासना भी प्रचलित है, तथापि मुख्यता उपर्युक्त इन बारह में ही मानी गयी है। इन बारह विद्येश्वरों में से दो या तीन के ही सम्प्रदाय आज तक वर्तमान है। कमा, लोपामुद्रा और अगस्त्य ऋषि का सम्प्रदाय कुछ–कुछ अंशों में प्रचलित है। चूँकि कामराज विद्या क वर्ण से प्रारम्भ होती है, अतः कादिविद्या या कादिमत नाम से भी प्रसिद्ध है। लोपामुद्रा द्वारा प्रवर्तित विद्या ह वर्ण से आरम्भ होती है, अतः हादिविद्या या हादिमत कहलाती है। कामेश्वर के अंक के वर्तमान कामेश्वरी के पूजाक्षेत्र में दोनों विद्याओं का समान उपयोग होता है।

राजकन्या लोपामुद्रा अगस्त्य मुनि की धर्मपत्नी के रूप में पुराण में अभिहित है। अपने पिता के घर में पराशक्ति की उपासना बचपन से ही देखकर इनको आदिशक्ति के प्रति भक्ति का उद्रेक हो गया था और इससे ये अत्यधिक प्रभावित थीं। इनकी उपासना से प्रसन्न होकर देवी ने इनको वर दिया कि तुम्हें मेरी सेवा करने का अधिकार है। तब इन्होंने त्रिपुरा विद्या का उद्धार किया और ऋषित्व को पाया। त्रिपुरारहस्य के माहात्म्य खण्ड में (अध्याय तिरपन में) यह आख्यान उपलब्ध है। मुनि अगस्त्य वैदिक ऋथि थे, वे पहले तान्त्रिक नहीं थें। इसलिए भगवती की उपासना का इनकी अधिकार नहीं था। इन्होंने अपनी धर्मपत्नी लोपामुद्रा से दीक्षा ली और तब भगवती की आराधना के लिए अधिकृत हुए। वाराणसी सरस्वती भवन से प्रकाशित शक्तिसूत्र इसी ऋषि की कृति मानी जाती है।

यही श्रीविद्या शक्तिचक्र की सम्राज्ञी है और ब्रह्मविद्या स्वरूपा आत्मशक्ति है। इस परदेवता के माहात्म्य के प्रसंग में यह पद्य बहुत अधिक प्रचलित है–

यत्रास्ति भोगो न व तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

यह श्रीविद्या केवल शाक्त तन्त्र सिद्ध ही नहीं है, वेदानुमोदित भी है। ऋग्वेद के अन्तर्गत शाङ्खायन आरण्यक में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है[६४]।

इस पराशक्तिस्वरूपा महाविद्या त्रिपुरसुन्दरी की उपासना पद्धति एवं माहात्म्य के अवबोध हेतु सीमित स्थान के कारण कुछ ही प्रसिद्ध शाक्त तन्त्रों के नाम यथामति यहाँ दिये जा रहे हैं। यथा कौलोपनिषत्, भावनोपनिषत्, त्रिपुरोपनिषत् तथा त्रिपुरातापिनींउपनिषत् इस क्रम में अवलोकनीय हैं। दुर्वासा ऋषिप्रणीत ललितास्तवरत्न एवं त्रिपुरा महिम्नस्तोत्र प्राचीन ग्रन्थ है तथा काव्यमाला में निर्णयसागर से प्रकाशित हैं। श्रीविद्यार्णवतन्त्र के अनुसार कादिमत के मुख्य ग्रन्थ चार हैं– तन्त्रराज़, मातृकार्णव, योगिनीहृदय और त्रिपुरार्णव। तन्त्रराज की अनेक टीकाएँ हुई, उनमें सुभगानन्दनाथ प्रणीत मनोरमा टीका प्रधान है। इसकी प्रेमनिधि पन्त कृत सुदर्शन टीका भी उपादेय है।

योगिनीहृदय तीन पटलों में पूर्ण है। इसका नामान्तर सुन्दरीहृदय तथा नित्याहृदय भी है। परमानन्दतन्त्र या परानन्दतन्त्र श्रीविद्या की उपासना के लिए विशिष्ट ग्रन्थ है। सौभाग्यसन्दोह नामक व्याख्या के साथ वह ग्रन्थ अब सरस्वती भवन, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। परशुरामकल्पसूत्र की वृत्ति में रामेश्वर ने इसका उल्लेख किया है। इस तन्त्र के आधार पर माधवानन्दनाथ ने वाराणसी में सौभाग्यकल्पद्रुम का प्रणयन किया है। महाकालसंहिता में उल्लिखित वामकेश्वरतन्त्र इस सम्प्रदाय का प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें षोडश नित्याओं का विवरण है। नित्याषोडशिकार्णव इसी का अंश है[६५]। अष्टपटलात्मक वामकेश्वरतन्त्र की व्याख्या सेतुबन्ध नाम से भास्करराय ने की है और पंचपटलात्मक नित्याषोडशिकार्णव की व्याख्या शिवानन्दकृत ऋजुविमर्शिनी तथा विद्यानन्दकृत अर्थरत्नावली वाराणसी से प्रकाशित है। यहाँ इसके परिशिष्ट में दीपकनाथाचार्यप्रणीत त्रिपुरसुन्दरीदण्डक, शिवानन्दमुनि कृत सुभगोदय, सुभगोदयवासना तथा सौभाग्यहृदयस्तोत्र और अमृतानन्दनाथाचार्य प्रणीत सौभाग्यसुधोदय एवं चिद्विलासस्तव भी प्रकाशित हैं। सम्पादक ने इसकी लम्बी भूमिका में इस महाविद्या की उपासना सम्बन्धी चर्या तथा दार्शनिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अत एव जिज्ञासु साधक तथा अनुसन्धान दोनों के लिए यह ग्रन्थ उपादेय है। ज्ञानार्णवतन्त्र इस प्रसंग में यहाँ उल्लेखनीय है, जो २६

पंटलों में पूर्ण एवं प्रकाशित है। श्रीक्रमसंहिता, बृहत्–श्रीक्रमसंहिता छियासठ पटलों में पूर्ण दक्षिणामूर्तिसंहिता तथा काश्मीर संस्कृत सिरीज में प्रकाशित स्वच्छन्दतन्त्र, शक्तिसंगमतन्त्र का सुन्दरीखण्ड, काशी से प्रकाशित त्रिपुरारहस्य का ज्ञान तथा माहात्म्य खण्ड आदि अवलोकनीय हैं। अमृतानन्दनाथकृत योगिनीहृदयदीपिका वामकेश्वर तन्त्र के अंशविशेष की उत्तम व्याख्या है। सच्चिदानन्दनाथकृत ललितार्चनचन्द्रिका, सच्चिदानन्दनाथ के शिष्य विद्यानन्दनाथ का सौभाग्यरत्नाकर, भास्कररायकृत (ललितासहस्रनाम की टीका) सौभाग्यभास्कर, सौन्दर्यलहरी की व्याख्या सौभाग्यवर्धिनी, सुभगार्चापारिजात, सुभगार्चारत्न, आज्ञावतार, संकेतपद्धति, चन्द्रपीठ, शंकरानन्द विरचित सुन्दरीमहोदय, अष्टादशशतक के उमानन्दनाथ कृत हृदयामृत तथा नित्योत्सवपद्धति, लक्ष्मीतन्त्र का त्रिपुरामाहात्म्य, ललितोपाख्यान, नागभट्ट कृत त्रिपुरासारसमुच्चय इसकी सम्प्रदायदीपिका नाम की टीका है। पूर्णानन्द परमहंसकृत श्रीतत्त्वचिन्तामणि एवं शाक्तक्रम आदि भी इस विषय के उपादेय ग्रन्थ हैं।

हादिमत के प्रतिपादक पुण्यानन्दनाथकृत कामकलाविलास, इसकी चिद्वल्ली व्याख्या, भास्कररायकृत (१८.श) सौभाग्यचन्द्रोदय, वरिवस्यारहस्य, वरिवस्याप्रकाश तथा शाम्भवानन्द की कल्पलता आदि द्रष्टव्य हैं[६६]। भास्करराय की शिष्य–परम्परा महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण प्रान्त में और काशी में आज भी वर्तमान एवं वर्धमान है। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान धर्म वाराणसी के संस्थापक स्वनामधन्य करपात्री स्वामी जी श्रीविद्या के उपासक रूप में प्रसिद्ध हुए है। वैदिक, तान्त्रिक एवं पौराणिक उपासना के परिचय के साथ विविध शास्त्रीय वैदुष्य, निर्मल यश तथा कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध एवं पथप्रदर्शक हैं। इनकी लम्बी शिष्य–परम्परा शिक्षा एवं दीक्षा के क्षेत्र में आज वर्तमान एवं वर्धमान है।

पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी का विस्तृत ध्यान नित्याषोडशिकार्णव (१.१३०–१४०) में तथा संक्षिप्त ध्यान शाक्तप्रमोद में देखा जा सकता है।

भुवनेश्वरी

शक्तिसंगमतन्त्र में कहा गया है कि सत्ययुग के आरम्भ में ब्रह्मा घोर तपस्या में लीन थे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर आदिशक्ति महेश्वरी क्रोधरात्रि नाम से प्रसिद्ध चैत्र शुक्ल नवमी को आविर्भूत हुई। इनकी योनि में सम्पूर्ण विश्व विराजमान है तथा प्रलयकाल में भी वहीं तिरोहित हो जाता है। इनके आविर्भाव का प्रयोजन सृष्टि का संचालन है[६७]।

स्वतन्त्रतन्त्र में चैत्र शुक्ल नवमी को क्रोधरात्रि नाम से परिभाषित किया गया है तथा द्वितीया विद्या का आविर्भाव उक्त तिथि में कहा गया है, दोनों तन्त्रो में इतना पार्थक्य आलोचनीय है।

इनके ध्यान में कहा गया है कि उदयकालिक सूर्य के सदृश वर्णशालिनी त्रिनयना पीनस्तनी एवं हसमुखी भगवती भुवनेश्वरी के सिर पर चन्द्र ही किरीट के रूप में विराजमान है, इनके चार हाथों में वर, अंकुश, पाश तथा अभय विद्यमान हैं–

उद्यद्रविद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्।।

इसका संवाद शारदालिक में मिलता है–

कराङ्कुशौ पाशमभीतिमुद्रां करैर्वहन्तीं कमलासनस्थाम्।
बालार्ककोटिप्रतिमां त्रिनेत्रां भजेऽहमाद्यां भुवनेश्वरी ताम्।। ९.८१

अन्य प्रकार का भी इनका ध्यान का उपलब्ध है–

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्–
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम्।
पाणिभ्यां मणिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत् परामम्बिकाम्।।
श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्बद्धं च रक्तोत्पलं
रत्नाढ्यं चषकं परं भयहरं संबिभ्रतीं शाश्वतीम्।
मुक्ताहारलसत्पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
वन्देऽहं सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्दस्थिताम्[६८]**।।**

इनके मन्त्र अनेक प्रकार के निर्दिष्ट हैं, अत एवं ध्यान में भी भेद स्वाभाविक है। द्विभुजा एवं चतुर्भुजा भगवती का ध्यान अलग अलग है[६९]। इनकी उपासना के विषय में सर्वप्रधान ग्रन्थ है– भुवनेश्वरीरहस्य, जो छब्बीस पटलों में पूर्ण है। इसमें भुवनेश्वरी की अर्चन–पद्धति सांगोपांग वर्णित है। इसके प्रणेता पृथ्वीधराचार्य आदिशंकराचार्य के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। इसी आचार्य का भुवनेश्वरीतस्तोत्र में विद्यमान है। भुवनेश्वरीतन्त्र, भुवनेश्वरीपारिजात, पुरश्चर्यार्णव के नवम तरंग का भुवनेश्वरीप्रकरण, तन्त्रसार की भुवनेश्वरीपूजा–पद्धति, शाक्तप्रमोद का भुवनेश्वरीप्रकरण, तन्त्राह्निक का

भुवनेश्वरीप्रकरण, देवीभागवत (१२.१२) तथा भुवनेश्वरी उपनिषद् आदि इनके माहात्म्य एवं अर्चनविधि के लिये द्रष्टव्य हैं। गुजरात में भुवनेश्वरी पीठ भी सुना जाता है तथा उपासक भी अधिक उपलब्ध हैं। इसमें उक्त क्षेत्र में इस विद्या के प्रचार–प्रसार का प्राचुर्य एवं परिचय मिलता है।

भैरवी

सभी प्रकार के कष्टों का संहार करने वाली, यम–दुःख से छुटकारा दिलाने वाली कालभैरव की भार्या भगवती भैरवी[७०] की उद्भवकथा उपलब्ध नहीं है। परशुरामकल्पसूत्र की वृत्ति में रामेश्वर ने कहा है कि इस संसार का भरणपोषण, रमण अर्थात् सौख्यप्रदान और वमन, अंर्थात् प्रलयकाल में परम शिव के उदर में विद्यमान इस संसार की सृष्टि के समय उद्गिरण करने से भैरवी नाम से अभिहित होती है[७१]।

ज्ञानार्णव, शारदातिलक तथा मेरुतन्त्र आदि शाक्त–ग्रन्थों में इनके अनेक रूपों का उल्लेख हुआ है। पुरश्चर्यार्णद के नवम तरंग में इनके नाम इस प्रकार वर्णित हैं– त्रिपुरभैवरी, भुवनेश्वरीभैरवी चैतन्यभैरवी, कमलेश्वरीभैरवी, सम्पत्प्रदाभैरवी, कौलेशभैरवी, कामेश्वरीभैरवी, षट्कूटाभैरवी, नित्याभैरवी तथा रुद्रभैरवी। इन सबका ध्यान एवं मन्त्र आदि भी अलग–अलग निर्दिष्ट हैं।

सकलसिद्धिदाभैरवी, भयविध्वंसिनीभैरवी, त्रिपुराबालाभैरवी, नवकूटबालाभैरवी, तथा अन्नपूर्णाभैरवी का उल्लेख, इनके ध्यान, मन्त्र एवं पूजाविधि तन्त्रसार में उपलब्ध हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस महाविद्या का साधक–सम्प्रदाय चिरकाल से विशाल रहा है।

इसका ध्यान शारदातिलक में इस प्रकार है– देवी की कान्ति सहस्रों उदीयमान सूर्यों की तरह है, इनका परिधान लाल रेशम वस्त्र की तरह है, गले में मुण्डमाला है, देवी के पयोधर रक्तचन्दन से लिप्त हैं, इनके हाथों में जपमाला, शास्त्र–ग्रन्थ, अभयमुद्रा और वरमुद्रा विराजमान है। त्रिनयना भगवती की मुखाकृति विकसित कमल की तरह शोभायमान है, रत्नमुकुट में चन्द्रकला संलग्न है, ऐसी मृदुहासिनी देवी को प्रणाम करना चाहिये।

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिनीं
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्[७२]॥

इनके माहात्म्य एंव उपासनाविधि के अवबोधहेतु भैरवीयामल विशिष्ट ग्रन्थ है। पुरश्चर्यार्णव में इस ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। शारदातिलककार की कृति भैरवीपटल का उल्लेख व्याख्याकार राघवभट्ट ने अपनी व्याख्या में किया है। इस प्रसंग में भैरवीतन्त्र अत्यधिक परिचित ग्रन्थ है। इसका उल्लेख तन्त्रसार, ताराभक्तिसुधार्णव, पुश्चर्यार्णव, प्राणतोषिणी, मन्त्रमहार्णव, आगमतत्त्वविलास, आगमकल्पलता, रहस्यार्णव, ललितार्णवचन्द्रिका, तन्त्ररत्न, श्यामारहस्य तथा सर्वोल्लासतन्त्र में मिलता है। मुकुन्दलालप्रणीत भैरवीरहस्य, हरिराम कृत भैरवीरहस्यविधि तथा भैरवीसपर्याविधि आदि ग्रन्थ साधकों के सहायक हैं। श्रीकण्ठी के मतानुसार भैरवीशिखा मूल तन्त्र है, जो इस विद्या की सांगोपांग उपासना एवं माहात्म्य का प्रदर्शक है। मूल चौसठ तन्त्रों में यह अन्यतम कहा गया है[७३]।

छिन्नमस्ता

भगवती छिन्नमस्ता के उद्भव के प्रसंग में वर्णित है कि महामाया शिव के साथ जब शृंगार में संलग्न थीं, अकस्मात् वह उससे विरक्त हो उठी। शुक्रक्षरण के समय वह चण्डमुर्ति हो गयी। अपना शुक्र विसर्जित कर वह बाहर आ गयी। इसी समय इनके शरीर से इनकी दो सहेलियाँ उद्भूत हुई। एक का नाम डाकिनी हुआ और दूसरी का वर्णिनी। दोनों सहेलियों के साथ भगवती साधुओं के हित एवं दुष्टों के निग्रह के लिये पुष्पभद्रा नदी के तट पर पहुँची। प्रात:काल उषा के समय दोनों सहेलियों के साथ वह उस नदी में जलक्रीडा में मग्न हो गयी। मध्याह्न के समय जलक्रीडा करते–करते इनकी सहेलियों को भूख सताने लगी। भगवती से बुभुक्षा की आतुरतावश भोजन माँगने पर भगवती ने नख के अग्र भाग से अपना सिर काट लिया। वाम नाड़ी से स्रवित रक्त से डाकिनी को दक्षिण नाड़ी से क्षरित रक्त से वर्णिनी को और ग्रीवामूल के मध्य से क्षरित रक्त से अपने सिर को भी आप्यायित करने लगी। इस तरह लीला करती हुई शाम के समय अपने सिर को कबन्ध पर रखकर सबकी सब घर लौटी। वीररात्रि की संख्या के समय चूँकि वह इस रूप में घर आई, अत एव वही उनका आविर्भाव काल माना गया तथा छिन्नमस्ता नाम भी प्रसिद्ध हुआ[७४]।

स्वतन्त्रतन्त्र में वर्णित है कि मकर संक्रान्ति के मध्य चतुर्दशी मंगल यदि कुलाकुल चक्र के अन्तर्गत कुल नक्षत्र घटित हो, तो वह ''वीररात्रि'' कहलाती है[७५]। इस कथा का विवरण नारदपंचरात्र में भी मिलता है[७६]। भगवती छिन्नमस्ता प्रचण्ड चण्डिका नाम से भी प्रसिद्ध है, जो सभी मनोरथों को पूरा करती है। इनके अनुग्रह से साधक शिवत्व को प्राप्त करता है, पुत्रहीन को पुत्र मिलता है, धनहीन को धन मिलता है, विद्याकामी कवित्व एवं उत्तम पाण्डित्य प्राप्त करता है[७७]।

इनका प्रसिद्ध ध्यान पुरश्चर्यार्णव के नवम तरंग में देखा जा सकता है।

मिथिला में दरभंगा से दस कोस पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक शंकर मिश्र के गाँव सरिसव में एक जीर्ण मन्दिर में लगभग छह सौ वर्श या उससे भी अधिक पुरानी भगवती छिन्नमस्ता की प्रतिमा आज भी परम्परा क्रम से पूजित समादृत होती आ रही है। यह भगवती सिद्धेश्वरी नमा से परिचित है। इससे लगभग दो कोस पूरब उजान ग्राम में आम के बगीचे में श्मशानालय में किसी आम्रवृक्ष के नीचे मूड़कटी दुर्गा नाम से ख्यात छिन्नमस्ता भगवती की प्राचीन प्रस्तर–प्रतिमा विद्यमान है। यह अपनी उग्रता के लिए आज भी प्रसिद्ध है। लगभग चार सौ वर्ष पुराना इतिहास इस प्रतिमा का उपलब्ध है। जानराजचम्पू, गीतगोपीपति तथा चण्डिकाचरतिचन्द्रिका आदि गीतकाव्यों के प्रणेता महाकवि कृष्णदत्त ने सप्तदश शतक के इस भगवती का प्रसाद और अनुग्रह पाकर जीवन एवं कवित्वशक्ति पायी थी। उन्होंने अपनी कृति कुवलयाश्वीय नाटक का मंचन यहाँ सबसे पहले किसी शाक्त पर्व के अवसर पर किया था, जिसका उल्लेख उक्त नाटक की प्रस्तावना में वर्तमान है। बिहार में रामगढ़ के पास रजरप्पा गांव में विद्यमान इनकी प्राचीन प्रतिमा अपनी उग्रता एवं फलप्रदता के लिए प्रसिद्ध है।

शाक्तप्रमोद, पुरश्चर्यार्णव तथा आगमकल्पलता आदि दस महाविद्याओं की उपासनाविधि के प्रतिपादक ग्रन्थों में इनकी उपासना विधि एवं माहात्म्य वर्णित हैं। शक्तिसंगमतन्त्र का छिन्नमस्ताखण्ड इनका माहात्म्य तो प्रदर्शित करता है, किन्तु उपासनाविधि का संकेत मात्र करता है। भैरवीतन्त्रोक्त इनका त्रैलोक्यविजयकवच, शाक्तप्रमोद का छिन्नमस्तास्तोत्र, विश्वासर तन्त्रोक्त इनका सहस्रनाम एवं शतनाम आदि द्रष्टव्य हैं।

धूमावती

धूमावती की उद्भवकथा दो तरह से वर्णित है। स्वतन्त्रतन्त्र एवं शक्तिसंगमतन्त्र में कहा गया है कि वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) से युक्त मंगलवार के दिन सन्ध्या समय में दक्ष प्रजापति के यज्ञ में उपस्थित तथा अपमान की अग्नि में जलती हुई भगवती सती के देह से निर्गत धूम से चूँकि इस भगवती का आविर्भाव हुआ, अतः यह धूमावती नाम से विख्यात हुई। यह कालमुखी नाम से भी प्रसिद्ध है, क्योंकि संसार कार्य में यह पूर्ण दक्ष है।

नारदपंचरात्र में कथा है कि एक दिन कैलासगिरि पर विराजमान शिव से क्षुधातुरा पार्वती ने भोजन माँगा तो शिव ने कहा कि थोड़ी देर रूक जाओ। कुछ क्षणों के बाद पार्वती ने पुनः अपनी आतुरता जताई। उन्होंने इसी तरह पुनः टाल दिया। देवी की क्षुधा असह्य थी। उन्होंने फिर भोजन मांगा

और नहीं मिलने पर वह प्रभु शिव को ही निगल गयी। क्षण भर में उने शरीर से धूमराशि बाहर आने लगी। शिव ने अपनी माया के बल से शरीर धारण कर देवी से कहा कि हे भगवति! प्रज्ञावचक्षु से देखों मेरे अतिरिक्त कोई पुरुष नहीं है और तुमसे भिन्न कोई महिला नहीं है। तुमने अपने पति को ही निगल लिया, तो तुम ''विधवा'' हो गयी। तुम सधवा के सभी चिह्नों को छोड़ दो। तुम्हारी यह श्रेष्ठ मूर्ति बगलामुखी नाम से विख्यात हो तथा तुम्हारा शरीर धूम से व्याप्त हो गया था, अत एवं तुम धूमावती कहलाओगी। तुम्हारी ये दोनों की मूर्तियाँ सिद्धविद्या के नाम से प्रसिद्ध होंगी। प्रतीत होता है। कि नारदपंचरात्र की दृष्टि से बंगलामुखी और धूमावती एक ही शक्ति के दो नाम है[७८]। कुब्जिकातन्त्र में कहा गया है कि धूमावती ने धूम्रासुर का वध किया था तथा यह महादेवी चतुवर्गफलप्रदा है[७९]।

इनके ध्यान में कहा गया है कि धूमावती विवर्णा चंचला रुष्टा दीर्घांगिनी है। इनका वस्त्र मलिन है, कुन्तल विवर्ण हैं, दन्तपंक्तियाँ विरल हैं, यह विधवा हैं, इनके रथ पर काकचिह्न लगा है, इनके पयोधर लटकते हैं, आंखे रूक्ष हैं, काँते लिये हुए हाथ से सूप एंव वरमुद्रा धारण करती है। इनका मुख विशाल है, नेत्र कुटिल है, भूख–प्यास से निरन्तर आतुर रहती है, भयंकरी तथा कलहप्रिया है[८०]।

फेत्कारिणीतन्त्र में इनका मन्त्र, उपासनाविधि एवं माहात्म्य वर्णित है। दस महाविद्या की उपासनाविधि के प्रतिपादक शाक्तप्रमोद आदि ग्रन्थों का अवलोकन भी इस प्रसंग में आवश्यक है। मेरुतन्त्र में इनका ध्यान मिलता है। ऊर्ध्वाम्नाय में इनका स्तोत्र उपलब्ध है। महामारी आदि आधिदैविक उपद्रव शान्ति के लिए इनकी आराधना प्रसिद्ध है। इस भगवती को वैरिनिग्रह में समर्थ कहा गया है। धूमावतीपंचांग, धूमावतीपूजा–प्रयोग, धूमावतीपूजा–प्रयोग धूमावतीपूजा पद्धति तथा धूमावतीपटल भी इनकी उपासनाविधि के लिए अवलोकनीय हैं। इन ग्रन्थों का उल्लेख तान्त्रिक साहित्य में मिलता है।

बगलामुखी

कभी सत्ययुग में झंझावात से प्रलयकाल उपस्थित हो गया था, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जलप्लावित हो गया था। भगवान् विष्णु को सृष्टि के पालन की चिन्ता सताने लगी। इन्होंने हरिद्रावर्ण के सिद्धिकुण्ड में तप करने की ठान ली। स्वयं पीतवर्ण का वस्त्र धारण कर भगवती के जप एवं ध्यान में निरन्तर रहने लगे। इनकी पतस्या से प्रसन्न होकर श्रविद्या उसी हरिद्राख्य कुण्ड में जलक्रीडा करने लगी और बगलामुखी नाम से ख्यात हुई। यह महापीत ह्रद सौराष्ट्र में विद्यमान है, जहाँ इस देवी

का कुलाकुल चक्रगत कुल नक्षत्र से युक्त हो, तो उसका नाम वीररात्रि माना गया है। इसी वीररात्रि के मध्य भाग में भगवती बगलामुखी का आविर्भाव हुआ है, जो ब्रह्मास्त्र विद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है[८१]। स्वच्छन्दतन्त्र में मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को घोररात्रि कहा गया है। इसी रात में भगवती बगलामुखी आविर्भूत हुई है। शक्तिसंगमतन्त्र में वीररात्रि को इनका उद्भावकाल कहा गया है।

बगला शब्द के निर्वचन में श्रद्धेय पण्डित मोतीलाल जी ने अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, जो सर्वधा अवधेय है। प्राणियों के शरीर से अथर्वा नाम प्राणसूत्र निकला करता है, जिसे स्थूल दृष्टि से देखना संभव नहीं है। कोसों दूर रहने वाले आत्मीय के दु:ख से कभी व्यक्ति दु:खी होने लगता है जिसे स्थूल दृष्टि से देखना संभव नहीं है। कोसों दूर रहने वाली आत्मीय के दु:ख से कभी व्यक्ति दु:खी होने लगता है, जिसे आधुनिक भाषा में ''टेलीपैथी'' कह सकते हैं। उस अधर्वा से ही यह व्याकुलता होती है। कभी देवगण इस अथर्वसूत्र के द्वारा असुरों पर कृत्या प्रयोग भी करते थे। पुराणों में प्रसिद्ध हरिवाहन एवं वेद में हरिवान् नाम से प्रसिद्ध मनुष्य इन्द्र ने सरमा नामक शुनी की सहायता से बृहस्पति की गायों को चुरा ले जाने वाले पणि नामक असुर का पता लगाया था। श्वास की घ्राणशक्ति में अथर्वसूत्र विद्यमान रहता है। जिस शुभ या अशुभ भविष्यत् का ज्ञान हम नहीं कर पाते, उसे श्वान या काक ज्ञात कर लेता है और कुछ पहले सूचित कर देता है। इस अथर्वा के दो भेद हैं– घोरगिरा और अथर्वागिरा। घोरागिरा में औषधि–वनस्पति विज्ञान है और दूसरे में अभिचारादि प्रयोग। इसी अथर्वशक्ति को वेद में वल्गामुखी कहा गया है। वल्गा ही इसका वैदिक नाम है, जो वर्णविपर्यय से वगला हो गया है। जैसे हिंस से सिंह का होना प्रसिद्ध है। शतपथब्राह्मण में इस वल्गा पद का प्रयोग देखा जाता है। ''अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्य: कृत्यां वल्गां निखनति। तानेवैतदुत्किरति'' (शत.ब्रा.३.५.४.३) कृत्या शक्ति का आराधक अपने शत्रु को मनमाना कष्ट पहुँचाने में सफल होता है। अत एवं भगवती बगलामुखी को उग्र माना गया है तथा ब्रह्मास्त्रस्वरूपा कहा गया है[८२]।

इनका ध्यान इस प्रकार है– सुधासमुद्र के मध्य में मणिमण्डप है। उसमें रत्न की वेदी बनी हुई है उस वेदी पर सिंहासन है। उन सिंहासन पर पीतवर्णा, स्वर्णाभूषण एवं सुवर्ण माल्य से अलंकृत पीतवस्त्र धारण किये हुए भगवती बगलामुखी विराजमान हैं। देवी के हाथों में क्रमश: मुद्गर एवं शत्रुओं की जिह्वा विद्यमान है–

मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डितरत्नवेदी–
सिंहासनोपरि गतां परिपीतवर्णाम्।
पीताम्बरां कनकभूषणमाल्यशोभां
देवीं भजामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम्[८३]।

तीस पटलों में पूर्ण ईश्वर तथा क्रौञ्चभेदन के संवाद रूप में उपलब्ध शाखायन तन्त्र वगला महाविद्या के विषय में मुख्य तन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। उसकी प्रति वाराणसी सरस्वती भवन में उलपब्ध है। इस तन्त्र का नामान्तर "षड्विद्यागम" भी है। बगलाक्रमकल्पवल्ली, वगलापञ्चांग, बगलापटल, बगलामुखीक्रम आदि ग्रन्थ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

चिरकाल से मध्यप्रदेश के दतिया क्षेत्र में भगवती बगलामुखी की प्रस्तर प्रतिमा आराधित होती आ रही हैं। वह सिद्धभूमि पीताम्बरापीठ नाम से विख्यात है। इस विद्या के साधक वहाँ के स्वामी जी ने वहीं से कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है। वह स्थान अपनी उग्रता के लिए प्रसिद्ध है।

मातंगी

ब्रह्मयामल के अनुसार अतिक्रूर विभूतियों को वश में लाने हेतु कभी कदम्बवन में मतंग नामक मुनि के बहुत दिनों तक तपस्या की। जहाँ भगवती त्रिपुरसुन्दरी के नेत्र से तेज:पुंज उद्भूत हुआ, वहीं तेज:पुज भगवती मातंगी नाम से विख्यात हुआ[८४]। चूँकि मुनि मतंग से इनके आविर्भाव का सम्बन्ध है, अत यह भगवती मातंगी कहलायी। इसका संवाद्र सम्मोहन तन्त्र में भी देखा जा सकता है। स्वतन्त्रतन्त्र में इनका आविर्भाव समय मोहरात्रि, अर्थात् भाद्रकृष्ण अष्टमी माना गया है। कुब्जिकातन्त्र में वर्णित है कि मतगासुर के विनाश करने के कारण तथा मदशीलत्व के कारण भगवती का नाम मातंगी हुआ[८५]।

पुरश्चर्यार्णव में इनके अनेक प्रकारों का विवरण मिलता है। यथा उच्छिष्ट मातंगी राज मातंगी, सुमुखी–मातंगी, वश्य–मातंगी, कर्ण–मातंगी, तथा मातंगी आदि। महापिशाचिनी तथा उच्छिष्टचाण्डलिनी भी इनका नामान्तर सुना जाता है। उच्छिष्ट विशेषण की कथा शक्तिसंगमतन्त्र के छिन्नमस्ता खण्ड के षष्ठ पटल में दी गयी है।

इनके ध्यान में वर्णित है कि भगवती श्यामवर्णा हैं, चन्द्रमा सिर पर विराजमान हैं, तीन आँखे

हैं, रत्नालंकरणों से शोभित हैं एवं रत्न के सिंहासन पर विराजमान हैं। भगवती का कटिभाग क्षीण हैं, स्मितमुखी है तथा पयोधर पीन एवं उन्नत है। चार हाथों में क्रमशः अंकुश, असि, पाश एवं खेटक विराजमान है–

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां सद्रत्नसिंहासने
संस्थां रत्नविचित्रभूषणयुतां संक्षीणमध्यस्थलाम्।
आपीनस्तनमण्डलां स्मितमुखीं ध्यायेद्वहन्तीं क्रमाद्
वेदैर्बाहुभिरङ्कुशासिलतिके पाशं तथा खेटकम्[८६]।।

कुलमणिगुप्त की रचना मातंगीक्रम तथा रामभट्टकृत मातंगीपद्धति तथा दसमहाविद्या संबन्धी तन्त्र ग्रन्थों में इनकी उपासना विधि मिलती है।

कमला

प्राचीन समय में कभी ब्रह्मा संसार की सृष्टि के लिये घोर तपस्या में लीन थे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवती परमेश्वरी चैत्र शुक्ल नवमी को उद्‌भूत हुई। वह भगवती क्रोधरात्रि नाम से भी प्रसिद्ध हुई। यह कभी क्षीरसागर के मन्थन के समय उद्‌भूत हूई थी, विष्णु के वक्षःस्थल पर विराजमान भगवती लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध हुई थी। भाद्र कृष्ण अष्टमी को कोलासुर का वध करने वाली भगवती लक्ष्मी का उद्भव हुआ और फाल्गुन कृष्ण एकादशी को यदि मंगल या शुक्रवार हो तो सर्व सौभाग्यदायिनी महालक्ष्मी का आविर्भाव होता है[८७]।

इनका ध्यान शारदातिलक में मिलता है– देवी की कान्ति सुवर्ण के समान है। हिमगिरि की तरह चार हाथी अपने शुण्ड के द्वारा हिरण्मय अमृतघट से उनको स्नान कराते है। देवी के वाम भाग के नीचे के हाथ में वरमुद्रा ऊपर के हाथ में पद्‌म विराजमान है। दाहिने भाग के नीचे वाले हाथ में अभयमुद्रा और ऊपर वाले हाथ में कमल विद्यमान है। देवी का परिधान देशमी वस्त्र है और वह पद्‌म पर बैठी हुई हैं–

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै–
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्यामृतघटैरासिच्यामानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बलसितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्[८८]।।

प्रेमनिधि पन्त कृत कमलापद्धति भगवती कमला की उपासनाविधि के लिये उपादेय ग्रन्थ है। शारदातिलक, पुरश्चर्याणर्व, शाक्तप्रमोद, आगमकल्पलता आदि में इनका माहात्म्य एवं पूजाविधि वर्णित है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मीपञ्चांग, लक्ष्मीपद्धति, लक्ष्मीपूजाप्रयोग, लक्ष्मीयामल, लक्ष्मीपूजाविवेक आदि भी द्रष्टव्य हैं।

ये दस महाविद्याएँ अकेली पूजित नहीं होती। इनके साथ शिव की भी पूजा विहित है, जो भैरव नाम से प्रसिद्ध हैं। सांसारिक भय से जो मुक्त करने में समर्थ हो, वही भैरव है। सांसारिक भय से भीत साधक उपासक भगवान् शिव को आर्त स्वर से पुकारता है, उस समय उस साधक के हृदय में जो स्फुरित होते हैं, वही भैरव है[८९]। शक्तिसंगमतन्त्र में दस महाविद्याओं के भैरव यथाक्रम इस प्रकार निर्दिष्ट हैं– महाकाल, ललितेश्वर, अक्षोभ्य, क्रोधभैरव, महादेव, कालभैरव, नारायण, बटुक, मतंग, तथा मृत्युंजय[९०]। तोडलतन्त्र में यहाँ कुछ पार्थक्य भी हें यथा त्रिपुरसुन्दरी के पञ्चवक्त्र भुवनेश्वरी के त्र्यम्बक, भैरवी के दक्षिणामूर्ति, छिन्नमस्ता के कबन्ध शिव, धूमावती के कोई नहीं, क्योंकि वह विधवा है, वगलामुखी के एकवक्त्र, कमला के भगवान् विष्णु और काली, तारा तथा मातंगी के महाकाल, अक्षोभ्य एवं मतंग माने गये हैं[९१]।

विशेष–विशेष कार्य के लिये विशेष–विशेष देवता का आराधन भी शाक्त सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। यद्यपि इष्ट–देवता से साधक की सभी मन:कामनाओं की सिद्धि अवश्य संभव है, तथापि शक्तिसंगमतन्त्र के छिन्नमस्ता खण्ड में एक–एक विशेष कार्य के लिए एक–एक महाविद्याविशेष की प्रसिद्धि कही गयी है। जैसे दान में काली, ज्ञान में तारा, राज्यलाभ में त्रिपुरसुन्दरी, अनुग्रह में छिन्नमस्ता, विवाद झगड़ा निबटाने में बगला, वशीकरण में तथा मन:कामनासिद्धि में मातंगी, शान्ति–स्वत्ययन में भुवेनश्वरी, क्रोध–कार्य में धूमावती, क्रीडा या लीला में कालिका, वाञ्छासिद्धि में सुमुखी, दान में कमला, सत्यसिद्धि में कालिका, ज्ञान में परशिव और ब्रह्माण्ड के निर्माण में राजराजेश्वरी प्रसिद्ध हैं[९२]।

दस महामविद्याओं के परिचय के बाद अब अवशिष्ट स्मार्ततन्त्र परम्पराके परिचय तथा इस दृष्टि से शाक्त उपासना के स्वरूप का दिग्दर्शन, तन्त्रों में अवश्य ज्ञातव्य मन्त्र तथा मन्त्र का संक्षिप्त परिचय यथामति प्रस्तुत करना अभिप्रेत है।

स्मार्ततन्त्र परम्परा

वेद, पुराण तथा आगम में समान श्रद्धा सम्पन्न, पञ्चदेवोपासक स्मार्तधर्मावलम्बी साधक

दीर्घकाल से अपनी संस्कृत रुचि के अनुकूल उपासना की परिष्कृत पद्धति से सात्त्विक उपचारों के द्वारा इन महाविद्याओं के रूप में परिचित आदिशक्ति की आराधना साधना करते आ रहे हैं। इनकी उपासनाविधि ही ''स्मार्ततन्त्र परम्परा'' नाम से परिचित है।

चूँकि वेद की अनुगामिनी स्मृतियों में विशेष रूप से वर्ण एवं आश्रम धर्मों का प्रतिपादन है तथा पञ्चमहाभूत एवं उनकी अधिष्ठात्री देवताओं की आराधना पर बल दिया गया है[९३]। अतः स्मार्त धर्मावलम्बी साधक नित्य आराध्य पञ्चदेवता की पूजा से ही किसी भी शुभ कर्म का प्रारम्भ करते हैं। ये वर्ण तथा आश्रम धर्म के प्रतिकूल, किन्तु कौल साधना में प्रशस्त[९४] शक्तिपूजा (लतासाधना परस्त्री संगम), प्रसन्ना विधि एवं पात्रस्थापन (मदिरार्पण) और पशुबलि के व्यवहार आदि को उपासना में वर्ज्य मानते हैं। ये वैदिक, पौराणिक एवं आगमिक मन्त्रों का समान रूप से उपयोग करते हैं। पाँच महाभूतों के अधिष्ठातृदेवता के रूप में प्रसिद्ध विष्णु, अम्बिका, सूर्य, शिव और गणेश यहाँ पञ्चदेवता[९५] अभिप्रेत हैं।

आगमिक उपासना मनुष्य मात्र के लिए विहित है और स्मार्त धर्मावलम्बी केवल द्विज होता है। अतः एकत्र सभी प्रकार के मनुष्यों की रुचि एवं प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उपासना की विधि निर्दिष्ट हुई है और अपरत्र द्विज मात्र अधिकारी कहा गया है। अतः स्मार्ततन्त्र परम्परा में उपासनाविधि का मर्यादित परिष्कृत होना स्वाभाविक है।

इस परम्परा का वैशिष्ट्य

महाकालसंहिता स्पष्ट कहती है कि मेरी तो ऐसी परम्परा है कि साधक श्रुति तथा स्मृति में निर्दिष्ट आचार के अनुपालन के साथ ही देवी की उपासना करते हैं[९६]।

वेद के अविरोधी आगमों में निर्दिष्ट आचार अनुपालनीय हैं और वेदविरुद्ध आगमोक्त आचार हेय[९७]। ब्राह्मण (द्विज) सात्त्विक द्रव्य से ही देवी की पूजा करें[९८]। दिन में सम्पाद्य पूजा का ही अधिकारी ब्राह्मण (द्विज) होता है, रात्रि में सम्पाद्य पूजा का नहीं[९९]। तन्त्र में मद्यपान की जो प्रशसा सुनी जाती है, वह शूद्रपरक है, ब्राह्मण (द्विज) परक नहीं[१००]। द्विज किसी भी परिस्थिति में जीवहत्या नहीं कर सकता[१०१]। इक्षुदण्ड, कूष्माण्ड, वन्यफल, दुग्धपिण्ड (खोया या मक्खन) अथवा चावल के चूर्ण से निर्मित पशु का बलि रूप में अर्पण इस परम्परा में मान्य है[१०२]। फलतः आचार की शुचिता, उपचार की सात्त्विकता तथा साधक की संस्कृत परिष्कृत मानसिकता पर यहाँ बल दिया गया है। महाकालसंहिता का स्पष्ट निर्देश है कि कौल सम्प्रदाय सिद्ध लतासाधन, प्रसन्नाविधि तथा पशुबलि

में यदि स्मार्त साधक का किसी कारण से विशेष आग्रह हो तो, शास्त्रों में निर्दिष्ट अनुकल्प का उपयोग कर अपनी साधना सम्पन्न कर सकता[१०३] है। यथा लतासाधन में अपनी पत्नी का उपयोग प्रसन्ना–विधि में कांस्यपात्र में नारियल का जल एवं ताम्रपत्र में दूध या मधु का व्यवहार और बलि में पूर्वोक्त अनुकल्प का उपयोग हो सकता है। ब्रह्मचारी, गृही, कौल और यती की उपासना में पार्थक्य का प्रदर्शन, द्विज एव शूद्र की पञ्चायतनवान् स्मार्तता, का अनेकधा उल्लेख इस संहिता को स्मार्त तन्त्र परम्परा का ग्रन्थ मानती है।

वैदिक परम्परा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को आत्मज्ञान का यथाक्रम सोपान मानती है। उक्त विधि से उपनिषत् प्रतिपादित अहंग्रह उपासना सम्पन्न होती है। इसी तरह आगम परम्परा में गुरुमुख से उपास्यका माहात्म्य सुनकर मन में उसके प्रति निश्चल विश्वास होने पर उसका निरन्तर ध्यान आगमों में निर्दिष्ट विग्रहोपासना में देखा जाता है। शंकर भगवत्पाद ने गीताभाष्य में उपासना के लक्षण में कहा है कि शास्त्र विहित पद्धति से उपास्य के निकट पहुँच कर समान विश्वास रखते हुए तैलधारा की तरह दीर्घकाल तक स्थित रहना ही उपासना है। दैवी कृपा से यही तन्मयीभाव इष्टदेवता का साक्षात्कार करा कर मोक्ष का सधाक होता है[१०४]। फलत: ध्यान के माध्यम से ध्येय के साथ ध्याता का तादात्म्य स्थान की उपासना के मूल में निहित है। वैदिक उपासना में उपासक अपने में उपास्य का दर्शन ज्ञान के माध्यम से करता है और तान्त्रिक उपासक भक्ति के द्वारा उपास्य तक पहुँचता है। तादात्म्य उभयत्र अपेक्षित है।

त्रिविध उपासना

इसमें कोटि का निर्देश भी शास्त्रों में मिलता है। उपासना की उत्तम कोटि है योग। मानस पूजा और बाहय पूजा क्रमश: मध्यम एवं अधम कोटि की मानी गयी हैं[१०५]।

यौगिक उपासना का बहुविध माहात्म्य शास्त्रों में प्रतिपादित है। दिग्दर्शनार्थ इतना कहना पर्याप्त होगा कि सांसारिक बन्धनों से छुटकारा, पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्मो का नाश तथा निर्मल ज्ञान का प्रकाशन इस विधि से सम्भव है[१०६]। महाकालसंहिता गुह्यकाली खण्ड के ग्यारहवें पटल में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

यह योगविधि सरल नहीं है, न तो सबसे संभव है। अत एव इस उपासना के अधिकारी विरल होते हैं। प्राक्तन संस्कार तथा उपर्युक्त गुरु के उपदेश से ही इसका अभ्यास संभव है। अत: साधक की सामर्थ्य में तारतम्य देखकर ही मानस ध्यान तथा बाह्य पूजा का विधान आगमों में उपदिष्ट हुआ

है, जो क्रमश: एक दूसरे का सोपान है। उपासक साधक की क्षमता के अनुसार गुरु इनमें से किसी एक का उपदेश देता है।

उत्कट चंचल एवं निरन्तर क्रियाशील मन सांसारिक विषयों के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बनाकर स्वच्छन्दता से जहाँ कहीं भी विचरण के लिये प्रस्तुत रहता है। यही कारण है कि ऋषियों ने मन के संयम पर अधिक बल दिया है तथा मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण माना है– "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:"।

इन मन को एकाग्र तथा निश्चल बनाकर केवल इष्टदेवता की ओर निरन्तर संलग्न रखना, अर्थात् उन्हीं की अनुचिन्तना में अपने को सर्वथा अर्पित कर देना मानस पूजा या मानस ध्यान है, जो उपासना की मध्यम कोटि कही गयी है। आगमिक भाषा में यही है अन्तर्याग। इसमें इष्टदेवता के स्वरूप–ध्यान का नैरन्तर्य बना रहता है। उपचार भी यहाँ मानस ही कल्पित होते हैं।

यहाँ तीन प्रकार के उपास्य का ध्यान शास्त्रों में वर्णित है– निराकार उपास्य, विराट्शरीरशाली उपास्य और मूर्तिमय उपास्य। आगमों में तीनों के ध्यान पृथक्–पृथक् निर्दिष्ट हैं[१०७]। यह पार्थक्य उपासक की क्षमता में तारतम्य के कारण ही शास्त्रकारों ने दिखाया है। अपनी सामर्थ्य के अनुरूप उपासक उपास्य का ध्यान करता है। सौन्दर्यलहरी में शंकर भगवत्पाद ने इस मानस पूजा स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है– हें भगवति! मेरी जल्पना ही जप है, लोकयात्रा हेतु किया गया हस्तसंचालन की मुद्रा है, चलना ही प्रदक्षिणा है, भोजनविधि ही आहुति है और स्वेच्छा से शरीर का कभी झुकाना ही प्रणाम है। जो कुछ भी मैं करता हूँ, वह आत्मसमर्पण बुद्धि से करने के कारण आपकी ही पूजा है, अर्थात् लोकयात्रा में किये गये आचरणों से ही आपकी सांग पूजा सम्पन्न होती है–

जपो जल्प: शिल्प सकलमपि मुद्रा विरचना
गति: प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधि:।
प्रणाम: संवेश: सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्[१०८]॥

इसका संवाद शैव उपासकों के द्वारा पठित शिवस्तोत्र में भी मिलता है–

आत्मा त्वं गिरिजा मति: सहचरा: प्राणा: शरीरं
गृह पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थिति:।
सञ्चार: पदयो: प्रदक्षिणविधि: स्तोत्राणि सर्वा गिरो

यद्यत्कर्म करोति तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्।।

प्रतिमा तथा यन्त्र आदि की पूजा अथवा उद्दिष्ट पूजा बाह्य पूजा से यहाँ अभिप्रेत है, जहाँ आवाहन, विसर्जन तािा प्राणप्रतिष्ठा आदि निर्दिष्ट पद्धति से किये जाते है। अग्निकुण्ड, कलश, गोमतीचक्र, पटचित्र तथा भित्तिचित्र आदि में से किसी एक में पूज्य देवता का आवाहन, सोपचारपूजा एवं विसर्जन आदि का विधान देखा जाता है।

विभव के अनुसार किसी अभ्यर्हित अतिथि के स्वागत सत्कार की तरह साधक उत्साह एवं प्रसन्नता से विधि उपचारों से अपनी पूज्या इष्टदेवता की आराधना करता है। पाँच या दस उपचार समान्य पूजा में विहित है। विशेष पूजा में सोलह, बत्तीस तथा चौसठ उपचारों का विधान भी किया गया है। इष्टदेवता यदि भगवती हैं तो यावतीय महिला प्रसाधन तथा गृहोपयोगी उपस्कार–उपकरण आदि भी इन उपचारों के अतिरिक्त ही अर्पणीय होते हैं। महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड के दशम पटल में इसका विशद विवरण मिलता है।

यहाँ यह अवधेय है कि बाह्य पूजा में भी प्राणायाम एवं मानस ध्यान का अनिवार्यतः अनुष्ठान निर्दिष्ट है, जो अन्य विषयों से विरत कर केवल इष्ट की ओर चित्त को लगाने का उपाय है। न्यास, भूतशुद्धि, आसनशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, आत्मशुद्धि, शरीरशुद्धि, विविध मुद्राओं का प्रदर्शन, मन्त्रजप, हवन, कवच एवं स्तोत्रपाठ, विविध प्रकारों के नैवेद्य का यथाविभव अर्पण तथा प्रार्थना आदि आराध्य के निकट पहुँचने के ही मार्ग के रूप में उपदिष्ट है, अत एव आवश्यक माने गये हैं। किन्तु उदारता इतनी है कि भगवती ने स्पष्ट कहा है कि यदि कुछ न उपलब्धं हो सके, तो भक्तिपूर्वक सर्वत्र सुलभ केवल जल के अर्पण से भी वह अवश्य सन्तुष्ट होती है–

''अभावे तोयभक्तिभ्यां सत्यं तुष्टा भवाम्यहम्''[१०९]।

जैसे आवाहन आदि से प्राणप्रतिष्ठा करने पर जड यन्त्र या प्रतिमा में आराध्य देवता का अधिवास होता है, इसी तरह न्यास के द्वारा आराधक में भी देवता का आवेश होता है। ''न्यासस्त–न्मयताबुद्धिः'' ऐसा शास्त्रवाक्य उपलब्ध है। यह न्यास षडंग न्यास, करषडंगन्यास, मातृकाविन्यास, षोढा, लघुषोढा तथा महाषोढा न्यास आदि के भेद से अनन्त प्रकार का होता है।

दूसरी बात यह है कि मानव–सुलभ दुर्बलता के कारण सामाज़िक जीवन में साधारण लोगों की इच्छा, रूचि एवं प्रवृति अनुचित भी हो सकती है, होती है। इसका दृढ़तापूर्वक या हठ से प्रतिरोध

करने पर मानव मन का उच्चाटन भी संभव है। अत: उसे विशोधितपरिशोधित करने की व्यवस्था के अन्तर्गत यह बाह्य पूजा विहित है, जो क्रमश: शरीर, मन एवं आत्मा के विमलीकरण का साधन होने से इष्ट तक पहुँचाने का सोपान है।

यद्यपि बाह्य पूजा की धारा बहुमुखी है, उपास्यों के स्वरूप का आनन्त्य, साधक की रूचि, एवं प्रवृत्ति में भिन्नता, आम्नायों के भेद, सम्प्रदायों के भेद तथा आचारों के भेद इनके मूल में विद्यमान हैं, अत एव पूजा की अनन्त पद्धतियाँ प्रचलित हैं, तथापि सबका उद्देश्य एक है। अत एवं बाह्य पूजा उद्देश्य रूप एक सूत्र में आबद्ध है। इसके तीन मुख्य प्रकार स्थूल दृष्टि से शास्त्रो में वर्णित हैं– नित्य, नैमित्तिक और काम्य।

प्रतिदिन की जाने वाली पूजा "नित्य पूजा" कहलाती है। प्रात:काल शयन से उठने के बाद रात में शयन हेतु जाने के पहले तक आराधक उपासक जो कुछ भी करता है, वह उसकी नित्य पूजा की कोटि में आता है। अत एवं लोकयात्रा के निर्वाहार्थ प्रात:काल साधक को अपनी इष्टदेवता से अनुज्ञा की याचना करनी पड़ती है[११०]।

किसी निमित्त के कारण की जाने वाली पूजा "नैमित्तिक पूजा" कहलाती है। यथा शरत् पूर्णिमा में लक्ष्मी की पूजा, दीपावली में काली पूजा, नवरात्र में दुर्गा की पूजा आदि।

फलप्राप्ति की इच्छा से की गई पूजा अथवा ईप्सित फल की प्राप्ति होने पर प्रतिश्रुत या तत्काल स्फुरित पूजा "काम्य पूजा" कहलाती है। इस पूजा में उपचार, उपकरणसम्भार, नैवेद्य एवं विधि–विधान के विशेष नियम आदि पद्धतियों में स्वतन्त्रतया निर्दिष्ट हैं। इसके आदि में संकल्प एंव अन्त में दक्षिणा अवश्य कृत्य के रूप में निर्दिष्ट हैं। सात्त्विक कामना की सिद्धि में सात्त्विक उपचार से तथा राजस या तामस कामना की सिद्धिहेतु तदनुरूप उपचार से पूजा की जाती है, जो पूजापद्धतियों से समझा जा सकता है।

दीक्षा

आत्मोन्नति के साधन इस उपासना का प्रथम सोपान है दीक्षा। इसके बिना उपासना का अधिकार ही नहीं बनता। आगमों में इसका सर्वाधिक महत्व दिखाया गया है। इसका स्वरूप, प्रकार, व्युत्पत्ति, माहात्म्य तथा प्रयोजन आदि का प्रतिपादन प्राय: प्रसिद्ध सभी तन्त्र–ग्रन्थें में विस्तार से हुआ है। दीक्षाग्रहण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित एवं उपलब्ध हैं। इसके विशेष ज्ञान के लिए

प्रपञ्चसार, मेरुतन्त्र, शारदातिलक, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति तथा प्राणतोषिणी आदि अवलोकनीय हैं। आश्चर्य है कि महाकालसंहिता में इसकी चर्चा भी नहीं है।

मन्त्र

चूँकि दीक्षा मन्त्र की होती है, अत एवं मन्त्र के स्वरूप एवं प्रभेद का परिचय भी आगमों में विशद रूप से दिया गया है। इस पद का अर्थ करते हुए तन्त्र कहता है कि सभी प्राणियों के मननयोग्य, संसाररूप सागर से पार करने में समर्थ, देवता के स्वरूप का अवबोधक एवं उनका अधिष्ठान स्वरूप मन्त्र[१११] होता है। इसके तीन प्रकार पुरुष, स्त्री और नपुंसक रूप शास्त्रों में वर्णित है[११२]। प्रपञ्चसार, ईशानशिवगुरुदेवतापद्धति तथा शारतातिलक में इसका स्पष्ट चित्र उपलब्ध है। जिस मन्त्र के अन्त में स्वाहा हो वह स्त्रीलिंग माना गया है। जिस मन्त्र में अन्त में नमः हो वह नपुंसक है और शेष पुल्लिंग मन्त्र हैं। शारदालितक यहाँ थोड़ा सा अधिक अपना योगदान कर कहता है कि जिस तन्त्र के अन्त में हुंफट् आता हो वह पुल्लिंग है[११३]।

शेष सर्वत्र समान है। इसके प्रयोजन के प्रतिपादन में कहा गया है कि वशीकरण तथा उच्चाटन आदि कार्यो के लिए पुरुष मन्त्र, क्षुद्र कर्म एवं ध्वंसात्मक कर्मो के लिए स्त्री मन्त्र और अन्य कार्य के लिए नपुंसक मन्त्र अनुकूल होते है[११४]।

अधिष्ठातृदेवता के भेद से भी इसका विभाग हुआ है। तथा मन्त्र और विद्या पद क्रमशः पुरुष एवं स्त्री देवता के मन्त्रों के लिए प्रयुक्त होते हैं[११५]। अन्य प्रकार के पुनः इसके चार प्रकार माने गये हैं– बीज, बीजमन्त्र, मन्त्र और मालामन्त्र। अनेक वर्णो से युक्त एकाक्षर मन्त्र बीज है, दस से कम अक्षरों का मन्त्र बीजमन्त्र है, दस से अधिक किन्तु बीस से कम अक्षरों का मन्त्र है और इससे अधिक अक्षर वाला मालामन्त्र है[११६]।

कहा गया है कि बाल्यावस्था में बीज, कौमार में बीजमन्त्र, यौवन में मन्त्र और वार्धक्य में मालामन्त्र अधिक फलद होते हैं। यहां यह भी कहा गया है कि श्रद्धा तथा भक्ति से अभ्यास करने पर सभी प्रकारों के मन्त्र किसी भी अवस्था में अवश्य फलप्रद होते हैं[११७]। महाकालसंहिता में इसके दो प्रभेद मन्त्र और उपमन्त्र के रूप में कहे गये हैं। मन्त्र जप्य होता है और उपमन्त्र देवी को जो कुछ भी अर्पण करना है, इस विधि में उपयोगी होता है। फलतः जप्य मन्त्र और अर्पणीय उपमन्त्र कहा गया है।

पुरश्चरण के लिए इन मन्त्रों के दस संस्कार जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गोपन आवश्यक कर्तव्य के रूप में शारदातिलक में तथा अन्यत्र निर्दिष्ट हैं। इससे स्मार्ततन्त्र परम्परा में इसका महत्त्वातिशय ज्ञाता होता है[११८]।

कुछ मन्त्र शापग्रस्त होते हैं। इन मन्त्रों के दान के समय दीक्षा से पहले उनका शापोद्धार आवश्यक है। अन्यथा वह फलप्रद नहीं होते। शापग्रस्त मन्त्र आगमों में परिगणित छिन्न आदि उनचास दोषों से ग्रस्त हो जाते हैं। शारदातिलक[११९] में इन दोषों का परिचय तथा उससे उद्धार के उपाय वर्णित हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि चैतन्य का आधान कर मन्त्र का उद्‌बोधन आवश्यक है। मन्त्र, देवता, गुरु तथा साधक में एक ही चैतन्य रहता है, जो देवता और गुरु में तो उद्‌बुद्ध रहता ळै, किन्तु मन्त्र और साधक में इसके उद्वद्धोधन की आवश्यकता होती है। गुरु अपना उद्‌बुद्ध चैतन्य इन दोनों में संचारित कर देता है[१२०]। इसे चैतन्याधान कहते हैं। 'गुरुदैवतमन्त्राणां' पद में मध्य में विद्यमान दैवत का देहलीदीपकन्यास से दोनों ओर समन्वय होता है। इसकी प्रक्रिया तन्त्र–ग्रन्थों में उपदिष्ट है।

इन मन्त्रों के सात अंग होते हैं, जिसका उल्लेख मन्त्रजप से पहले आवश्यक है। वे हैं– ऋषि, छन्द, देवता, शक्ति, बीच कीलक और विनियोग। इसका गूढ तात्पर्य विशद रूप से प्रपञ्चसारसंग्रह में प्रतिपादित है।

यन्त्र

शाक्त तन्त्रों में यन्त्र को देवता का शरीर और मन्त्र को उसकी आत्मा कहा गया है। अत एवं यन्त्र मन्त्रमय होता है, जिससे शरीर और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध बना रहता है–

यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं मन्त्रात्मा देवतैव हि।
देहात्मनोर्यथाऽभेदो यन्त्रदेवतयोस्तथा[१२१]॥

एक से यही कारण है कि यन्त्र पर भी देवताओं की पूजा आगमों में प्रशस्त मानी गयी है–

''सर्वेषामेव देवानां यन्त्रपूजा प्रशस्यते''[१२२]।

गन्धर्वतन्त्र भी इसकी पुष्टि करता है। यहाँ कहा गया है कि देवता का शरीर तीन प्रकार का होता है– भौतिक, मनोमय और विज्ञानमय। मुद्रा उनका भौतिक शरीर है, यन्त्र मनोमय और मन्त्र उनका ज्ञानमय शरीर है–

शरीरं त्रिविधं प्राहुर्भौतिकं च मनोमयम्।

परं ज्ञानमयं नित्यं यदनाशि निरन्तरम्।
मुद्रां भौतिकमित्याहुर्यन्त्रं विद्धि मनोमयम्।
मन्त्रं ज्ञानमयं विद्धि एवं त्रिधा वपुर्भवेत्[१२३]।।

यही आगे कहा गया है कि यन्त्र के बिना पूजा करने पर आराध्य देवता प्रसन्न नहीं होते–

''बिना मन्त्रेण चेत् पूजा देवता न प्रसीदति''

यद्यपि प्राणप्रतिष्ठा से सम्पन्न प्रतिमा की पूजा मन्दिरों में तथा घरों में देखी जाती है, तथापि यन्त्र के माहात्म्य के प्रदर्शन के लिये उक्त वचन की सार्थकता समझनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि प्रतिमा के अभाव में यन्त्र पर पूजा विहित एंव प्रशस्त है, उद्दिष्ट पूजा विवशता का द्योतक है। साधारण तया यन्त्र को देवता का स्वरूप और प्रतीक दोनों मानता है, जैसे कि वेदान्त में ॐकार को ब्रह्म का स्वरूप एवं उपासना के लिये प्रतीक कहा गया है।

तन्त्र–ग्रन्थों में प्रत्येक देवता के यन्त्र का स्वरूप भिन्न प्रकार का वर्णित है। अत एवं आगम में विशेष रूप से पृथक्–पृथक् निर्दिष्ट यन्त्र पर तत्तद् देवता की पूजा विहित है। प्रत्येक यन्त्र पर सभी देवताओं की पूजा विहित नहीं है। महाकालसंहिता में मण्डल पद से इस यन्त्र का परिचय दिया गया है। अत एवं मण्डल और यन्त्र का व्यवहार आगमों में पर्याय रूप में मिलता है। आगमों में वर्णित है कि कहीं यदि प्रसंग रहने पर भी किसी देवता के यन्त्र का विवरण उपलब्ध नहीं होता हो, तो ऐसी परिस्थिति में अष्टदल कमल लिखकर उसके मध्य में षट्कोण कर्णिका का और बाहर में चार द्वारों एवं भूपुर आदि का निर्माण कर यन्त्र बनानाप. चाहिये और उस पर अभीष्ट देवता की पूजा करनी चाहिये–

अनुक्तकल्पे यन्त्रं तु लिखेत् पद्मं दलाष्टकम्।
षट्कोणं कर्णिकं तत्र वेदद्वारोपशोभितम्[१२४]।।

इससे यन्त्र का महत्त्व सिद्ध होता है। यह यन्त्र सुवर्ण, रजत, ताम्रपत्र, भूर्जपत्र तथा स्फटिक पर निर्मित होता है–

सौवर्णे राजते पात्रे भूर्जे वा सम्यगालिखेत्।
अथवा ताम्रपट्टेन गुटिकीकृत्य धारयेत्।। (बृहत् तन्त्रसार)

यन्त्र दो प्रकार का होता है– पूजनीय और धारणीय। देवता की पूजा जिस यन्त्र पर होती है,

उसे पूजनीय यन्त्र और पूजापाठ आदि करके सुवर्ण, रजत या ताम्रपत्र से ढककर गले में या बाहु पर जो यन्त्र धारण किया जाता है,उसे धारणीय यन्त्र कहते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादित है कि धारण करने पर यह यन्त्र पुरुष, स्त्री तथा बालक सभी के मनोरथों को सिद्ध करता है तथा आभूषण का भी काम करता है–

पुरुषस्य तथा स्त्रीणां बालकानां विशेषतः।
धारणात् सिद्धिदं देवि यन्त्रं च भूषणं भवेत्[१२५]॥

इस प्रकार के यन्त्रों पर चिरकाल से भारतीयों का निश्चिय विश्वास रहा है। इसका प्रमाण महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में उपलब्ध है, जहाँ शकुन्तला के पुत्र भरत के गले में कण्व ने ऐसा रक्षायन्त्र डाल रक्खा था कि उससे उसकी रक्षा तो होती ही रही और उसका आनुषंगिक सुॅलन यह भी हुआ कि उस यन्त्र ने उस शिशु का अपने पिता से मिला दिया।

आगमों में यन्त्र की जो व्युत्पत्ति दी गयी है, उससे दो बातें अवश्य सिद्ध होती हैं। एक तो यन्त्र में बीज मन्त्र का समावेश एवं आराधनविधि से देवता का सान्निध्य रहता है और दूसरा यह कि नानाविध उपद्रवों से रक्षा करने में वह सर्वथा समर्थ होता है।

कुलार्णवतन्त्र का स्पष्ट कथन है कि यम, भूत तथा प्रेत आदि के भय से रक्षा करने के कारण इसका नाम यन्त्र पड़ा। काम, क्रोध आदि दोषों से उद्भूत दुःखों का यह प्रतिरोध करता है, अत एव इसे यन्त्र कहा गया है। इस पर पूजा करने से देवता प्रसन्न होते हैं–

यमभूतादिसर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि।
त्रायते सततं चैव तस्माद् यन्त्रमितीरितम्॥
कामक्रोधादिदोषोत्थसर्वदुःखनियन्त्रणात् ।
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देवः प्रीणाति पूजितः[१२६]॥

श्रीतत्त्वचिन्तामणि में भी इसकी पुष्टि की गयी है। वहाँ कहा गया है कि पूजन, ध्यान तथा धारण से यन्त्र पापों का नाश रकता है तथा बड़े से बड़े भय से रक्षा करता है--

यमयत्यखिलं पापं त्रायते महतो भयात् ।
साधकं पूजनाद् ध्यानात् तस्माद् यन्त्रं प्रकीर्तितम्॥

उपसंहार

इस प्रकार पराशक्ति आदिशक्ति के महाविद्याओं के रूप में प्रयोजनवश आविर्भाव, इसका निदान, देश तथा काल का आख्यान, प्रसिद्ध संख्या का निर्णय, सिद्धविद्या के रूप में प्रतिष्ठा, दस वैष्णव अवतारों के साथ तादात्म्य, स्वरूप, प्रभेद, माहात्म्य, उपासना की दीर्घकालिक परम्परा का दिग्दर्शन, आराधकों का तथा संबद्ध सिद्धपीठों का यथोपलब्ध परिचय शास्त्रीय आधार के अनुसार यहाँ यथामति प्रस्तुत किया गया है। मधुकरी वृत्ति से इनकी उपासना के प्रतिपादक तन्त्र ग्रन्थों का विवरण भी संकलित किया गया है। साथ ही स्मार्ततन्त्र की परम्परा, इसका वैशिष्ट्य, उपासना के स्वरूप, प्रभेद, दीक्षा की अनिवार्यता, यन्त्र के स्वरूप एवं प्रभेद, महत्त्व तथा प्राचीन अवधारणा आदि पर यथामति प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

एक बात का ध्यान यहाँ अवश्य रखना होता है कि परशुरामकल्पसूत्र में निर्दिष्ट सम्प्रदाय और विश्वास के बिना यहाँ काम नहीं चलता। गुरुपरम्परा से प्राप्त मन्त्र एवं उपासनाविधि का परिचय तथा उस पर पूरी निष्ठा साधक के लिये अपेक्षित है। तभी इस क्षेत्र में सिद्धि संभव है। परशुराम–कल्पसूत्र स्पष्ट कहता है– ''सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः'' (१.९)।

शास्त्रेषु नास्ति नैपुण्यं विद्याया नास्त्युपासना।
बुद्धिशुद्ध्यै प्रवृत्तोऽत्र गुरूणां हि निदेशतः।।
शास्त्रेष्वाकीर्णविषयाः संगृहीता यथामति।
समष्ट्या तेन मयि सा जगदम्बा प्रसीदतु।।

पूर्व आचार्य गंगानाथ झा
केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास,
एकादश खण्ड से साभार गृहीत।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूतये स्वाभाविकी ज्ञानबले क्रिया च। श्वेताश्वतर उप. ६.८।

२. सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः। काऽसि त्वं महादेवीति। साऽब्रवीत्– अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। अथर्वशीर्ष उप ७१।

३. माइनर उपनिषत्स नामक ग्रन्थ में शाक्त उपनिषद् अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित हैं तथा अथर्वगुह्योपनिषत् महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड के प्रथम पटल में उपलब्ध एवं प्रकाशित है।

४. दुर्गासप्तशती ४.७।

५. शिवमहापुराण ३.९८.२५–२६।

६. महाकालसंहिता–गुह्यकालीखण्ड १०.१५३६।

७. द्रष्टव्य–महाकालसंहिता–कालकलाखण्ड पटल १४.२५–२६ तथा ३१–३२।

८. "सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः" परशुरामकल्पसूत्र १९।

९. शिवमहापुराण ५०.२८–३०, शाक्त सम्प्रदाय में श्रीविद्या के नाम से प्रसिद्ध भगवती–त्रिपुरसुन्दरी के स्पष्टतः यहाँ पृथक् उल्लेख से ज्ञात होता है कि श्रीविद्या पद यहाँ भगवती कमला (लक्ष्मी) के लिए प्रयुक्त है। श्री पद लक्ष्मी के पर्याय के रूप में कोष में निर्दिष्ट है। खिष्टीय दशम शताब्दि के वैदेशिक पण्डित अलबेरुनी ने इस पुराण अनुवाद किया है, जहाँ दस महाविद्याओं का स्वभावतः उल्लेख है, इससे उक्त पुराण की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है।

१०. द्रष्टव्य–बृहद्धर्मपुराण, ३०३६ और श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध ८।

११. अथैताः दश वै देव्यो मूर्तयो मम पश्य ताः।
महाविद्या इमा प्रोक्ता नामान्यासां तु वर्णये।।
काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च सुन्दरी वगलामुखी।।
धूमावती च मातङ्गी महाविद्या दशैव ताः। बृहद्धर्मपुराण ३६.१२५–१२६।

तन्त्रों में षोडशी तथा सुन्दरी भगवती त्रिपुरसुन्दरी के वाचक हैं, अतः यहाँ उक्त दोनों पदों में भेद चिन्त्य है। साथ ही भगवती कमला या उनका वाचक पद यहाँ नहीं है। अतः उक्त पदों में अन्यतर पद इनका वाचक हो सकता है।

एताः सर्वाः महाविद्या भजतां मोक्षदाः पराः।
मारणोच्चाटनक्षोभमोहनद्रावणानि च।।
जृम्भणस्तम्भसहारान् वाञ्छितार्थान् प्रकुर्वते।
गोपनीय परं चैतन्न प्रकाश्य कदाचन।

दिव्यज्ञानेन भगवन् पश्य मां जगदम्बिकाम्।
ममाराधनशास्त्राणि करिष्यति तथा स्वयम्।। वहीं, ३६.१३२–१३५।

१२. द्रष्टव्य–महाभागवतपुराण अष्टम स्कन्ध।

१३. तान्त्रिक टेक्स्ट सिरीज, खण्ड–९, पृ. १३–१४

१४. द्रष्टव्य–मुण्डमालातन्त्र प्रथम भाग ६.१५२–१५३ एवं द्वितीय भाग १.७.८।

१५. चामुण्डातन्त्र का वचन शब्दकल्पद्रुम तथा प्राणतोषिणीतन्त्र, काण्ड ५ परिच्छेद ६ में उद्धृत है। शक्तिसंगमतन्त्र ताराखण्ड ११.३ एवं छिन्नमस्ता खण्ड १.३–४ द्रष्टव्य है।

१६. द्रष्टव्य– शक्तिसंगमतन्त्र, ताराखण्ड ११.२–३।

१७. द्रष्टव्य– महाकालसंहिता, कामकलाखण्ड ८.२०९–२१०

१८. तन्त्रसार में उद्धृत मालिनीविजयतन्त्र के पद्य।

१९. काली तारा महादुर्गा त्वरिता छिन्नमस्तका। वाग्वादिनी चान्नपूर्णा तथा महिषमर्दिनी।।
कामाख्या वासिनी बाला मातङ्गी चण्डिका तथा। इत्याद्याः सकला विद्याः कलौ पूर्णफलप्रदाः।।
विश्वसारतन्त्रवचन, तन्त्रकौमुदी में उद्धृत।

कालीं तारा भैरवी च षोडशी भुवनेश्वरी। अन्नपूर्णा महामाया दुर्गा महिषमर्दिनी।।
त्रिपुरा वगला छिन्ना धूमा च त्वरिता तथा। मातङ्गी धनदा गौरी त्रिपुटा परमेश्वरी।
प्रत्यङ्गिरा महामाया भेरुण्डा शूलिनी तथा। चामुण्डा सर्वदा बाला तथा कात्यायनी शिवा।।
तन्त्र–स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, प्रो. चिन्ताहरण चक्रवर्ती
पृ. ८५–८६ में उद्धृत एवं संकलित।

२०. निरुत्तरतन्त्र १५ परिच्छेद।

२१. सप्तकोटिर्महाविद्या उपविद्याश्च तादृशाः।
तासां मूर्तिमुनिश्रेष्ठ संख्यातुं नैव शक्यते।। मुण्डमालातन्त्र ९.३२।

२२. सत्ये तु सुन्दरी आद्या त्रेतायां भुवनेश्वरी।
द्वापरे तारिणी विद्या कलौ काली प्रकीर्तिता।।

न भेदः कालिकायाश्च ताराया जगदम्बिके।
न च भेदो महेशानि विद्याया वरवर्णिनि।। मुण्डमालातन्त्र ९.३३–३५।

२३. नैव सिद्धाद्यपेक्षास्ति नक्षत्रादिविचारणा।
कालादिशोधनं नास्ति नास्ति मित्रादिदूषणम्।।
मुण्डमालातन्त्र, द्वितीय भाग १.११–१२ आदि पद्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं।

२४. द्रष्टव्य– उक्त ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड ५.६३–७५।

२५. एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः। मुण्डमालातन्त्र, द्वितीय भाग, १.८।

२६. दुर्गासप्तशती ४.९।

२७. योगमाया आश्रम, लावान् शिलौंग आसाम से प्रकाशित। द्रष्टव्य– इसका पृ. ४५–४६।

२८. इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्।। दुर्गासप्तशती ११.५५।

अवधेय है कि महामारी आदि आधिदैविक उपद्रव की शान्ति हेतु दुर्गासप्तशती के इस श्लोक का पाठ, लिखकर घर में रखना तथा जप आदि पुरश्चरण करना मिथिला में चलचित है। उक्त श्लोक का भाव भगवद्गीता में पाया जाता है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। ४.७

सप्तशती यदि पराशक्ति के विषय में कहती है, तो भगवद्गीता परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण को आलम्बन करती है।

२९. स्त्रीणां त्रैलोक्यजातानां कामोन्मादैकहेतवे।
वंशीधरं कृष्णदेहं द्वापरे सञ्चकार ह।। महाकालसंहिता गुह्यकालीखण्ड १३.३४३।

३०. द्रष्टव्य– शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ता खण्ड, पटल ५–६।

द्रष्टव्य– कल्याण का शक्ति अंक, पृ० ११२।

३१. द्रष्टव्य– शक्तिसंगमतन्त्र खण्ड १ पटल ६, पद्य २३–२५, व पटल १३, पद्य १–१८
तथा इसी का खण्ड ४, पटल ६, ७०–७५।

३२. प्राणतोषिणी तन्त्र के काण्ड ५, परिच्छेद ६ में उद्धृत स्वतन्त्रतन्त्र के वचन देखिये।

३३. तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया।। दुर्गासप्तशती ५.८८

३४. ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन् प्रति।
कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत् तदा।। दुर्गासप्तशती ७.५

३५. प्राणतोषिणीतन्त्र, ५.६–१।

३६. द्रष्टव्य–शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ताखण्ड, ५.३–१७३ तथा ६.१–४०।

३७. द्रष्टव्य– कालीतन्त्र।

३८. द्रष्टव्य– रमानाथकृत कर्पूरस्तवटीका। यहाँ तान्त्रिक साहित्य की भूमिका पृ० २७ से यह वर्णन लिया गया है।

३९. अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना।। महानिर्वाणतन्त्र ५.१४०

४०. दक्षिणकालिका सिद्धकालिका गुह्यकालिका।
श्रीकालिका भद्रकाली चामुण्डाकालिका परा।।
श्मशानमालिका देवि महाकालीति चाष्टधा।। तोडलतन्त्र ३.१८–१९।

४१. महाकालसंहिता कामकलाखण्ड का आरम्भ।

४२. द्रष्टव्य–तन्त्रालोक चतुर्थ आह्निक कारिका १४८ एवं उसके आगे।

४३. द्रष्टव्य–मुण्डमालातन्त्र ९.१३२।

४४. द्रष्टव्य–महाकालसंहिता गुह्यकालीखण्ड।

४५. द्रष्टव्य– वहीं

४६. द्रष्टव्य–महाकालसंहिता गुह्यकालीखण्ड।

४७. द्रष्टव्य–महाकालसंहिता वचन, पुरश्चर्यार्णव के प्रथम तरंग में उद्धृत।

४८. कुब्जिकातन्त्रवचन प्राणतोषिणी में उद्धृत काण्ड ५ परिच्छेद ६ द्रष्टव्ये।

४९. द्रष्टव्य– म. म गोपीनाथ कविराज का तान्त्रिक साहित्य भूमिका पृ० २७–२८, तथा
प्रो. चिन्ताहरण चक्रवर्ती का तन्त्र–स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर।

५०. यथा त्रिभेदा तारा स्यात्।

५१. प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासापरा खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्परभुजा हूंकारबीजोद्भवा।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता जाड्यं न्यस्य कपालके त्रिजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्।। शाक्तप्रमोद

५२. द्रष्टव्य–पुरश्चर्यार्णव, तरंग ८।

५३. श्रीदात्री च सदा विद्या श्रीविद्या परिकीर्तिता।
निर्गुणा च महादेवी षोडशी परिकीर्तिता।। कुब्जिकातन्त्रवचन, प्राणतोणिषी में उद्धृत ५.६

नित्याषोडशिकार्णव का कहना है जैसे चन्द्र की सोलह कलाओं में १५ कलाएँ क्षयिष्णु हैं, केवल एक सोलहवीं कला अक्षुण्ण होती है, क्योंकि वह सर्वतिथिमयी एवं पूर्ण कही गयी है। इसी तरह यहीं उक्त प्रकार की षोडशतम कला युक्ता यह भगवती "षोडशी" कहलाती है। किसी का कहना है कि इनके बीच मन्त्र में सोलह अक्षर पाये जाते हैं, इस दृष्टि से यह षोडशी कहलाती हैं।

५४. त्रिकोणं मण्डलं चास्या भूपुरं च त्रिरेखकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरः प्रोक्तस्तथा रूपत्रयं पुनः।।
त्रिविधा कुण्डलीशक्तिस्त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्व त्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात्तु त्रिपुरा मता।।
कालिकापुराणवचन, ललितासहस्रनाम की भूमिका में उद्धृत।

५५. माता मानं मेयं बिन्दुत्रयभिन्नबीजरूपाणि।
धामत्रयपीठत्रयशक्तित्रयभेदभावितान्यपि च।।

तेषु क्रमेण लिङ्गत्रितयं तद्वच्च मातृकात्रितयम्।
इत्थं त्रितयमयी या तुरीयापीठादिभेदिनी विद्या।। कामकलाविलास १३.१४

५६. त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्य अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम।। प्रपंचसार ८.२

५७. द्रष्टव्य– प्राणतोषिणीतन्त्र, काण्ड ५ परिच्छेद ६।

५८. द्रष्टव्य– शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ताखण्ड, पटल ६ श्लोक ८१–९१।

५९. द्रष्टव्य– वहीं, पटल ५ श्लोक १३०–३१।

६०. प्राणतोषिणीतन्त्र, का. ५, प. ६ में उद्धृत नारदपंचरात्रवचन।

६१. ब्रह्माण्डपुराण ३.४.३८, ८१–८२।

६२. द्रष्टव्य– ब्रह्माण्डपुराण ४.३९।

६३. मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च्र इन्दुः स्कन्दः शिवस्तथा।।
क्रोधभट्टारको देव्याः द्वादशामी उपासकाः।

६४. द्रष्टव्य– तान्त्रिक साहित्य की भूमिका, पृ. २९–३०।

६५. द्रष्टव्य– तान्त्रिक साहित्य की भूमिका, पृ. ३३ की टिप्पणी।

६६. द्रष्टव्य– वहीं, पृ. ३३–३६।

६७. द्रष्टव्य– शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ता खण्ड, ६.१६–१८।

६८. द्रष्टव्य– शारदातिलक ९.१४, ६०, ६९।

६९. द्रष्टव्य– तान्त्रिक साहित्य की भूमिका, पृ० ३७।

७०. भैरवी दुःखसंहर्त्री यमदुःखविनाशिनी।
कालभैरवभार्या च भैरवी परिकीर्तिता।। प्राणतोषिणी ५.६

७१. भैरवीशब्दार्थश्च जगतो भरणाद् रमणात् प्रलये परमशिवकुक्षिस्थितस्य सृष्टिसमये वमनाच्च भैरवीति ज्ञेयम्।
द्रष्टव्य– परशुरामकल्पसूत्रवृत्ति १.२।

७२. द्रष्टव्य– शारदातिलक १२.३१।

७३. द्रष्टव्य– तान्त्रिक साहित्य की भूमिका।

७४. शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ता खण्ड, पंचम पटल।

७५. द्रष्टव्य– पृष्ठ ३७३ की पहली पादटिप्पणी।

७६. प्राणतोषिणीतन्त्र के पृ० ५१६ में उद्धृत नारदपंचरात्रवचन।

७७. प्रचण्डचण्डिकां वक्ष्ये सर्वकामफलप्रदाम्।
यस्याः प्रसादमात्रेण शिव एव भवेन्नरः।।
अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात्।
कवित्वं च सुपाण्डित्यं नात्र संशयः।। पुरश्चर्यार्णव, ६ तरंग

७८. प्राणतोषिणीतन्त्र में उद्धृत, द्रष्टव्य– काण्ड ५, परिच्छेद ६।

७९. धूमावती महामाया धूम्रासुरनिषूदनी।
धूमरूपा महादेवी चतुर्वर्गप्रदायिनी।। प्राणतोषिणीतन्त्र में उद्धृत।

८०. द्रष्टव्य– फेत्कारिणीतन्त्र, पृष्ठ ७ सम्पूर्ण।

८१. शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ता खण्ड, षष्ठ पटल तथा सम्मोहनतन्त्र।

८२. द्रष्टव्य– दशमहाविद्या सम्बन्धी निबन्ध, कल्याण के शक्ति अंक के पृ० १११, ११२ में प्रकाशित।

८३. पुरश्चर्यार्णव, ९ तरंग तथा शाक्तप्रमोद।

८४. यह कथा ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में तथा शक्तिसंगमतन्त्र में भी वर्णित है।

८५. मातंगी मदशीलत्वान्मतङ्गासुरनाशिनी।
सर्वापत्तारिणी देवी मातङ्गी परिकीर्तिता।। प्राणतोषिणी में उद्धृत, काण्ड ५, परिच्छेद–६।

८६. शाक्तप्रमोद।

८७. प्राणतोषिणीतन्त्र, का. ५, प. ६।

८८. शारदातिलक ८.४ तथा शाक्तप्रमोद।

८९. ''भयं भीः संसारत्रासः, तथा जनितो योऽसौ रवो भगवद्विषय आक्रन्दः परामर्शो वा, ततो जात इति भैरवः। तेनाक्रन्दवतां परामर्शवतां च हृदि परमार्थभूमौ स्फुरित इति यावत्।''. (तन्त्रालोके प्रथममाह्निकम्)

९०. शक्तिसंगमतन्त्र, ४.८.२१०–२१२।

९१. द्रष्टव्य–तोडलतन्त्र, प्रथम परिच्छेद, ३–१६।

९२. शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्नमस्ताखण्ड, २ ६८–७३।

९३. मनुस्मृति का उपसंहार भाग द्रष्टव्य–
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्।। १२.१२४
पञ्चायतनपूजा वै सर्वेष्वेवागमादिषु।
गणेशश्चापि सूर्यश्च विष्णू रुद्रस्तथैव च।।
पूजयेन्मध्य ईशानीं पञ्चायतनमीदृशम्।। (महाकालसंहिता, गु.ख. १२.२७५–७८)

९४. परस्त्रीसंगमो मद्योपसेवा प्राणिघातनम्।
को हेतुर्नैव जानामि देवीप्रीतिकरा इमे।। (१०.१६६९–७० म. सं. गु. ख.)

९५. मिथिला में रात्रिपूजा में गणपत्यादि पञ्चदेवता का और दिन में सूर्यादि पञ्चदेवता का पूजन निश्चित है। इससे प्रतीत होता है कि सूर्य और गणेश वैकल्पिक देवता हैं और सूर्य या गणेश के अतिरिक्त विष्णु, शिव, दुर्गा तथा अग्नि को सम्मिलित किया जाता है। इसका मूल अन्वेषणीय है।

९६. श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म देव्युपासनमेव च।
उभयं कुर्वते देवि मदुदीरितवेदितः।। (म. सं.,गु. ख. १०.१२६४)

९७. वेदाविरुद्धं कुर्वन्ति यद्यदागमचोदितम्।
आगमादेशितमपि जहति श्रुत्यचोदितम्।। (म. सं.,गु. ख. १०.२१३८)

९८. द्रव्येण सात्त्विकेनैव ब्राह्मण, पूजयेच्छिवाम्। (म. सं., का. ख. ५.१२३)

९९. द्विजादीनां तु सर्वेषा दिवाविधिरिहोच्यते।
शूद्रादीनां तथा प्रोक्तं रात्रिदृष्टं महामतम्।। (म. सं., का. ख. ५.७३)
इसी से शक्तिपूजा एवं प्रसन्नाविधि आदि में उनका अनधिकार सिद्ध होता है।

१००. श्रूयते यत्फलाधिक्यं तन्त्रादौ मद्यदानतः।
तद्धि शूद्रपरं ज्ञेयं न तु द्विजपरं प्रिये।। (म. सं., गु. ख. ६.४२०)
इसका संवाद शक्तिसंगमतन्त्र में तथा ताराभक्तिसुधार्णव में मिलता है।

१०१. सात्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नो चरेत्। (म. सं., का. ख. ५.१३५)

१०२. इक्षुदण्डं च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम्।
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद् बलिम्।
तत्तत्फलविशेषेण तत्तत्पशुमुपानयेत्।।

१०३. मधुक्षीरं तथाज्यं च नारिकेलोदकं प्रिये।
ब्राह्मणानामिदं शस्तं फलानां च रसास्तथा।
कूष्माण्डं महिषत्वेन छागत्वेन च कर्कटीम्।। (म. सं., का. ख. ५.१३६–३७)

१०४. यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते।। (भगवद्गीता शांकरभाष्य १२.३१)

१०५. उत्तमो योगमार्गेण मध्यमो ध्यानसंश्रयात्।
पूजाध्यानादिभिर्ज्ञेयोऽप्यधमाराधनक्रमः।। (म. सं., का. ख. ७.२०२)

१०६. योगेन भवबन्धोऽयं विनाशमुपगच्छति। कर्माणि क्षयमायान्ति पूर्वजन्मकृतान्यपि।।
ज्ञानं प्रकाशतेऽत्यर्थं शुद्धं यद्दोषवर्जितम्।। (म. सं., गु. ख.)

१०७. द्रष्टव्य–महाकालसंहिता गुह्यकाली खण्ड १.३०–१०२, १४०,–४६, १७८–१९८।

१०८. द्रष्टव्य–सौन्दर्यलहरी, पद्यसंख्या २७।

१०९. महा गुह्य. ६.३९३।

११०. आप्रत्यूषादाशयनं यावत्कृत्यं भवेदिह।। महा. गुह्य. ५.४८९

१११. मननात् त्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात्।
मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठाननतोऽपि वा।। योगशिखाब्राह्मण
मननात् सर्वभूतानां त्राणात् संसारसागरात्।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणधर्मिणी (रत्नत्रय)।।
मननत्राणधर्मित्वं वाचकं दैवतस्य तु।
यत्र तन्मन्त्रसंज्ञं स्यात्र तद्बीजेषु वा भवेत्।। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति १.२२४

११२. मन्त्रास्त्रेधा स्त्रीपुमांसश्च षण्डाः स्वाहान्ताः स्युयोषितो ये नमोऽन्ताः।
ते षण्डाख्याः शिष्टमन्त्रा पुमांसः प्रोक्तं मन्त्रव्यापृतौ गौतमेन।। (ईशानशिव ४.११)

११३. पुंमन्त्रा हुफडन्ताः स्युर्द्विठान्ताश्च स्त्रियो मताः।
नपुंसका नमोऽन्ताः स्युरित्युक्ता मनवस्त्रिधा।। (शारदातिलक २.५९)

११४. शेषाः पुमांसः शक्तास्ते वश्योच्चाटनकेषु च।
क्षुद्रक्रियामध्वंसे स्त्रियोऽन्यत्र नपुंसकाः।। (राघवभट्टकृत शादरा टीका, पृ. ४६)

११५. मन्त्रविद्याविभागेन द्विविधा मन्त्रजातयः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्या स्त्रीदैवता मताः।। (वहीं २.५७–५८)

११६. मन्त्रास्ते स्युश्चतुर्विधाः।
बीजानि बीजमन्त्राश्च मन्त्रा मालाख्यमन्त्रकाः। (ईशानशिव १.१८–२१)

११७. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति १.१८–२१

११८. द्रष्टव्य–शारदातिलक २.११२–११३

११९. द्रष्टव्य– वहीं २.६४–७२

१२०. द्रष्टव्य– पुरश्चर्यार्णव में उद्धृत गन्धर्वतन्त्र के २९ पटल का वचन।

१२१. शाक्तानन्दतरंगिणी, उल्लास १३, भारतीय शक्ति साधना तथा प्रिन्सिपुल्स ऑफ तन्त्र, भूमिका, पृ० ८५ में उद्धृत।

१२२. शाक्तनन्दतरंगिणी, उल्लास १३, भारतीय शक्ति साधना तथा प्रिन्सिपुल्स ऑफ तन्त्र, भूमिका, पृ. ८५ में उद्धृत।

१२३. गन्धर्वतन्त्र ५.३९–४०

१२४. मत्स्यसूक्त वचन, भारतीय शक्तिसाधना के पृ. ८८७ में उद्धृत।

१२५. शक्तिसंगमतन्त्र, ताराखण्ड।

१२६. द्रष्टव्य–कुलार्णवतन्त्र, उल्लास ६ श्लो. १७।

सीस दिये जौं गुरु मिलै तो भी सस्ता जान

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल

मध्यकालीन समूची भक्तिसाधना, चाहे वह तांत्रिक हो या अतांत्रिक, गुरुतत्त्व का बहुत आभारी है। गुरु सम्प्रदायों और पथों के आविर्भाव का परम विधायक है। क्या बौद्ध, क्या जैन, क्या शैव और क्या वैष्णव–सभी सम्प्रदायों ने जी खोलकर गुरू का गुणगान किया है। प्रत्येक गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्यान्य देवी–देवताओं से भी बढ़कर स्वीकार किया गया है। यदि कोई उनसे गुरू को छोटा मान ले तो परलोक में जो दुर्गति होनी होगी वह तो होगी ही, इहलोक में भी उसे अपने इस अद्‌भुत साहस का दण्ड भोगना पड़ सकता है। तांत्रिक साधनाओं में तो वह सार्वभौम मार्गदर्शक और उद्धारक मान लिया गया था। गुरूदेव का यह महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दी की सगुण और निर्गुण धारा में समान रूप में बना रहा है।

कुलार्णव तन्त्र में गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि 'गु' शब्द अन्धकार का वाचक है और 'रु' अन्धकार को दूर करने का। इस प्रकार (अज्ञान के) अन्धकार को नष्ट करने के कारण गुरु शब्द प्रयोग होता है।[1] एक अन्य स्थान पर गुरु को विष्णुपाद का अधिकारी बताते हुए कहा गया है–

अतः कुलार्णव तंत्र के अनुसार यदि ध्यान करना हो तो गुरु की मूर्ति का ही करना चाहिए और पूजा करनी हो तो गुरु के चरणों की ही करनी चाहिए। उनके उपदेश ही मंत्र है, उनकी कृपा ही मोक्ष है, साधक की सभी क्रियाएँ गुरूमय होनी चाहिएँ। इस प्रकार नित्यप्रति गुरु की सेवा से सिद्धियाँ निश्चित रूप से प्राप्त होती हैं।[2] लेकिन गुरु भी कोई जैसा–तैसा व्यक्ति नहीं हो सकता। उसे सर्वागमार्थतत्वज्ञ, सर्वमंत्रविधानवित्, लोकसम्मोहक, प्रियदर्शन, देवोपम, सुमुख, सुलभ, स्वच्छ, भ्रमनाशक, प्राज्ञ, तर्कपटु, अन्तर्लक्षी, सूक्ष्मद्रष्टा, सर्वज्ञ, देशकालविद्, निग्रहानुग्रहक्षम, बोधक, शांत, दयालु, जितेन्द्रिय, षडरिवर्गजता, पात्रापात्रज्ञाता, निर्मल, नित्य-संतुष्ट, साधुप्रिय, भक्तवत्सल, शिष्यसाधक, रागद्वेष-भय-क्लेश-दम्भादि परित्यागी, स्वविद्यानुष्ठानरत, गुण-दोष-विभेदक और स्वार्थरहित होना चाहिए। तभी वह वास्तविक गुरूपाद का अधिकारी हो सकेगा। बौद्ध सिद्ध **सरह पा** ने अज्ञानी गुरूओं को सम्बोधित करते हुए कहा भी था–

जब लौं आप न जानिये, तब लौं सिख न करेई।
अन्धा काढ़े अंध तिमि, दोउहिं कूप पड़इ।।

इतना अवश्य है कि यदि योग्य गुरु मिल गया तो मूढ़ जनों से अगम्य और वेदपाठी पंडितों से भी अगोचर तत्व, अगम्य और अगोचर नहीं रह जाता है।[३] इसी लिए प्राय: सभी सिद्धों ने योग्य गुरु की खोज की आवश्यकता पर बल दिया है।

वज्रयान तथा अन्य तांत्रिक साधना सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति नाथपंथ में आकर और भी विकसित हुई। गुरू गोरखनाथ आगे चलकर नाथ पंथ में ब्रह्म से भी ऊँचा स्थान पा गए।[४] फलत: नाथपंथ की तीव्र गति से बढ़ती दिखाई पड़ने वाली पंथनिर्माण की प्रवृत्ति के मूल में भील गुरु महत्ता का भाव ही मुख्य कारण था।

तात्पर्य यह कि हिन्दी काव्य की भक्तिकाव्यधारा ने जिस आध्यात्मिक वातावरण से अपना जीवनरस ग्रहण किया था, वह गुरु के प्राधान्य से पूर्णत: ओतप्रोत था। इस धारा के प्रारम्भिक संतों, यथा नामदेव, कबीर प्रभृति के ऊपर भी इस वातावरण की पूरी छाप पड़ी थी। इसी प्रभाव के फलस्वरूप संतमत में आगे चलकर लगभग १०० से भी अधिक पंथ प्रवर्तित हुए।

कबीर के शिष्य धर्मदास जी ने अपने गुरु को परम प्रियतम के रूप में याद किया है।[५] साथ ही उनकी आरती उतारते हुए उन्होंने युग-युग तक जीवित रहने की कामना व्यक्त की है।[६] उन्होंने कबीर को ज्ञानी, यती, सती, प्रतापी, दाता, गंभीर, धीर, अक्खड़, सुखकरन, दुखहरन, ज्ञानमण्डल, कर्मखंडन और दयासिन्धु आदि कहा है। निम्नलिखित पद में कबीर की वन्दना करते हुए वे उनसे अमरलोक की याचना करते है–

''साहेब मोरी ओर निहरौ।
परजा पुत्र अहौं मैं साहब, बहुत बात मैं टारौ।
हौं अपराधी बहुत जुगन को, नइया मोर उबारौ।
साहेब कबीर हंस के राजा, अमरलोक पहुँचावौ।।[७]

नानक ने भी मार्गदर्शन के लिए एक योग्य गुरु की आवश्यकंता का अनुभव किया था।[८] उनका सिख सम्प्रदाय तो 'शिष्य शब्द का ही रूपान्तर है। यद्यपि यह 'शिष्य' शब्द विनय, श्रद्धा, ज्ञान की पिपासा, आज्ञाकारिता आदि भावों का द्योतक है, तथापि एक ससुंगठित पंथ के रूप में इसने किस प्रकार अपना विशिष्ट विकास कर लिया तथा इस पंथ में 'गुरुग्रंथसाहब' किस प्रकार सर्वाधिक उच्चासनस्थ हुआ, यह सर्वविदित है। गुरुपूजा और उनकी बानियों को मंत्ररूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति तत्कालीन वातावरण में स्वाभाविक ही थी।

संत सुन्दरदास ने, जो इस परम्परा के एक आचार्य माने जा सकते है, गरु के बिना साधना की सिद्धि असंभव बताई है।[९] विद्वान् होने के कारण उन्होंने अपनी बात कुछ अधिक तर्कसंगत ढंग से कही है। बात भी ठीक ही है। बिना गुरू के ज्ञान नहीं होता। यदि कोई चतुर गुरू मिल गया तो मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी उससे लाभान्वित हो सकता है।[१०] गुरु पहले अपने शिष्य को सांकेतिक भावों द्वारा समझाने की चेष्टा करता है, पर उसके न समझने पर वह वाणी का उपयोग करता है। यदि संकेत को शिष्य समझने की योग्यता रखता है, तो उसे साधु की कोटि में समझना चाहिए क्योंकि कही हुई बात तो कोई भी समझ सकता है।[११]

पलटूदास ऐसे व्यक्ति को गुरु मानने के योग्य समझते हैं, जो एक पहुँचा हुआ योगी हो, साधना के क्षेत्र में जागृत हो, सासारिक आकर्षणों से अप्रभावित हो, जिसके संग्रह में त्याग हो और जो अखण्ड भजनानन्दी हो। इसके विपरीत वे लोग जो ज्ञान-ध्यान तो कुछ जानते नहीं, केवल शिष्य बना कर अपना पेट पालन करते हुए गुरु-पद को लांछित करते हैं, उन्हें पलटूदास ने मेहतर (भंगी) कहकर उनके प्रति अपनी घृणा व्यक्त की है।[१२]

योग्य गुरु को खोज करना और उसे प्राप्त करने में सफल होना साधना के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। सामान्यतया योग्य गुरु आसानी से नहीं मिला करते।[१३] गोरखनाथ को तो कथन है कि 'गुरु की खोज करनी ही हो तो बड़े सतर्कतापूर्वक करनी चाहिए। सच बात तो यह है कि बिना पूर्व जन्म के पुण्य-प्रभाव के सद्गुरु का मिलना कठिन है।[१४]

सद्गुरु के न मिलने से संत बुल्लेखाह बहुत दुखी हैं। अन्दर का मैल धोने के निमित्त की गयी उनकी सारी उपासना गुरु के बिना व्यर्थ सिद्ध हुई। वे कहते हैं–

बाहर पाक कीते होदां, जो अंदरो न गई पलीती।
बिन मुरशिद कामिल बुल्ला, तेरी ऐबैं गई इबादत केती।।[१६]

इसी प्रकार घट-घटवासी और इस जगतन्त्र के संचालनकर्ता भगवान् को संत जगजीवन दास के शिष्य संत केशवदास भी गुरु के अभाव में नहीं देख पाए थे।[१७] सहजो बाई सद्गुरु के महत्त्व की ओर संकेत करती हुई कहती हैं–

गुरु बिन मारग ना चलै, गुरु बिन लहै न ज्ञान।
गुरु बिन सहजों धुंध है, गुरु बिन पूरी हान।

चिउँटी जहाँ न चढ़ सकै, सरसो ना ठहराय।
सहजों कूँ वा देस में, सतगुरु दई बसाय।।[१८]

गुरु का स्थान इस काव्यधारा के कवियों की दृष्टि में कितना महत्त्वपूर्ण था यह ऊपर की कुछ पंक्तियों द्वारा स्पष्ट हो जाता है। गुरु शब्द इस धारा में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह 'सद्' शब्द से मिलकर जहाँ एक ओर गुरु का महत्व बढ़ा देता है, वहीं दूसरी ओर वह ब्रह्मवाची भी हो गया है। जहाँ, ब्रह्म या परमतत्व के लिये संत कवियों को उचित शब्द का अभाव प्रतीत हुआ है; उन्होंने 'सद्गुरु' शब्द से ही काम चला लिया हैं। उनका मानव सद्गुरु भी परम सद्गुरु (ब्रह्म) से कम नहीं है। संत दयाबाई का कथन है–

सद्गुरु ब्रह्म सरूप हैं, मानुषभाव न जान।
देहभाव मानें दया तो हैं पसू समान।।[१९]

ऐसे गुरु का कीर्तिमान करने में भी भीखा साहब को भी कठिनाई हुई थी। दूलनदास की उद्धृत उक्ति द्वारा भी दयाबाई के इस कथन का समर्थन हो जाता हैं।[२०] कबीर के साथ जब 'गुरु और गोविन्द में से पहले किसे प्रणाम करें' का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने गुरु को ही प्राथमिकता दी। चरणदास भी हरि की अपेक्षा गुरु को प्रसन्न करने की आवश्यकता अधिक समझते हैं। उनकी शिक्षा है कि 'गुरु को तजि हरि सेव कभी नहीं कीजिए'। यदि हरि को छोड़कर भी गुरु को पाने का प्रसंग उपस्थित हो तो यह सौदा महँगा नहीं है। वे कहते है–

हरि रूठे कुछ डर नहीं, तू भी दे छुटकाय।
गुरु को राखौ सीस पर, सब विधि करें सहाय।।

चरणदास की बानी भाग–१, पृ० ९

गुरु के लिए संत कवियों ने विचित्र-विचित्र विशेषणों का प्रयोग किया है। किसी ने 'धोबी'[२१] से उसकी उपमा दी है, तो किसी ने 'सिकलीगर'[२२] (शिशे की सफाई और मरम्मत करने वाले) से। गुरु के लिए 'तीरंदाज', 'गोलन्दाज', पंथिक' 'सूरमा' जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। किसी-किसी ने गुरु को कुम्हार, लुहार, केवट, बढ़ई, राजगीर आदि भी कहा है।[२३] गुरु में चुंबक, पारस, चंदन और कपूर की विशेषता बताने वाले भी उल्लेखनीय है। भृंग और 'अलग पंख' जैसे जीवों से भी गुरु की विशेषताओं की उपमा दी गई है।[२४] गुरु को सगा, दाता, अनन्त दिखावनहार,

गोविन्द, अमृत की खान, जिन्दा, जगदीश, पुरोहित और बादल आदि यदि कहा गया हो, तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है।[२५] चरणदास जी ने गुरु को वेदरूप, पंडित, कल्पवृक्ष कामधेनु, महेश, ब्रह्म, विष्णु, गंगा, सूर्य और सर्वसमर्थ आदि कहा है।[२६]

सहजोबाई के कथनानुसार गुरु परमेश्वर से भी बड़े हैं। उन्होंने ४ प्रकार के गुरुओं का उल्लेख किया है।[२७] उनमें से कौन से कौन से गुरु परमेश्वर से बड़े हैं, यह उन्होंने नहीं बताया। हो सकता है, चारो कोटि के गुरुओं के लिए उन्होंने अपनी बात कही हो।[२८] चरणदास का कथन है कि गुरु शिष्य को अपना कर, उसका पालन, क्रौंच पक्षी और कच्छप की भाँति करते हैं।[२९] जिस प्रकार सद्गुरु को धनुर्धारी, शूरमा, तीरदाज, गोलंदाज, शिकारी, बधिक, निशानेबाज, अहेरी, कमनैत आदि कहा गया है, उसी प्रकार उनके उपदेशों के लिये भी, गोला, बान, तेग, सेल, तलवार आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[३०] सच बात तो यह है कि गुरु के उपदेशों का जिज्ञासु और भक्तिभावापन्न शिष्य के हृदय पर बड़ी शीघ्रता से प्रभाव पड़ता है। यही बात तीव्रगामी तीर या गोले के माध्यम से कहीं गई है। दूसरी बात यह है कि इन शास्त्रों का काम है चोट पहुँचाना और संहार करना। प्रेम, ज्ञान एवं ज्ञान विरह आदि शिष्य के हृदय में 'गुरु के उपदेशों द्वारा ही जागृत होते हैं। अत: गुरु के शब्दों को शस्त्र के रूप में उपमित किया गया। लोभ-मोह आदि साधना के अन्तरायों का विनाश भी गुरु के उपदेशों द्वारा ही संभव है, अत: तीर, वाण या गोला आदि शब्द सार्थक हैं।[३१] उन्हें शिकारी, बधिक या निशानेबाज कहने का रहस्य यह है कि वे अपने शिष्यों की कमजोरी भलीभाँति समझकर उन्हीं को पहले हटा देने का प्रयत्न करते हैं।[३२] प्रत्येक प्रतिभाशाली गुरु अपने उपदेशों के अनुसार अपने शिष्यों द्वारा भलीभाँति आचरण कराने के लिए उनकी दुर्बलताओं पर सर्वप्रथम ध्यान देता है। गुरु के शब्दों का महत्व दादू ने भलीभांति समझा था। उनका कथन है कि शब्द में ही सब उत्पन्न होते है, शब्द में ही सबका लय भी होता है और शब्द से ही निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। दूलनदास के विचार से नानक, नामदेव, जगजीवन, गुरु एवं पीर औलिया आदि भी 'शब्द ही हैं।[३३]

गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने की यह भावना परवर्ती संत मतों में सतत बढ़ती गई है। कबीरपंथ और चरणदासी सम्प्रदाय ने इस क्षेत्र में विशेष प्रवृत्ति दिखायी है। कबीर को तो धर्मदास ने ही ब्रह्म एवं उसके अवतारों की गद्दी पर बैठा दिया था। अत: भावी पीढ़ियों को उसे मानकर चलने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। कबीरपंथ का कर्मकाण्ड भी सनातन धर्मावलम्बी हिन्दू मत से किसी प्रकार कम नहीं था। 'कबीरोपासना पद्धति' में कबीरपंथियों की दिनचर्या का जो विधान लिखा हुआ है, उसके अनुसार उसमें साधुओं के २४ घण्टे का आचार कैसा होना चाहिए इस बात

पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

संदर्भ-क्रम

१. गु शब्दस्त्वन्धकारः स्यादुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार:निरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।
– कुलार्णव तंत्र, प्रथम उल्ला, १७/१
गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारो विष्णुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः॥

२. हिन्दी काव्यधारा– पृ० २१७/८

३. गूढ़ जण लोअ अगोअर तत्त, पंडिअ लोअ आगम्म।
जो गुरु पाउ पसण्ण, तहिं कि चित्त अगम्म॥ – वही (तिलोपा) पृ० १७२

४. ऊं गुरु जी– श्री गोरखनाथ योगेन्द्र युगपति निगम आगम यश गावते।
श्री संकर शेष विरंचि शारद नारद बीन बजावते........................॥ आदि
– नाथसिद्धों की बानियाँ– (चौरंगीनाथ) श्री नाथाष्टक।

५. मोरे पिया मिले सतज्ञानी।
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी।
धर्मदास कबीर पिय पाये, मिट गई आवा जानी॥
– धरमदास जी शबदावली, शब्द – ७

६. आरति गुरु कबीर की कीजै! जाके सेव जुगो जुग जीजै!
अजर अमर है तुम्हरी काया। धरमदास गुरु सरनी आया। – वही, शब्द–१३

७. वही. पृ० २५

८. गुरु बिन राह बतायै कौन, बोहिथ क्यों पहुँचै बिन पौन। – प्राणसंगली–१ पृ०१

९. गुरु बिनु ज्ञान नहिं गुरु बिनु ध्यान नहिं,
गुरु बिनु आतम विचार न गहतु है।
गुरु बिनु प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भ्रमहु को नाश नहिं, संशय रहतु है।
गुरुबिनु पाठ नहिं, कौड़ी बिनु हाट नहीं,
सुन्दर प्रगटलोक वेद यों कहत है।

— सुन्दर विलास, पृ०६, श०५

१०. सिखि सिखि पढ़ि गुनि हाथ न आवै। सतुगुरु मिलौ त लै पहुँचावै।

— धरमदास बोधलीला (हस्तलेख ना०प्र०स०)

११. दादू द० की वाणी पृ० २०—२१।

१२. ज्ञान ध्यान जानै नहीं, करते शिष्य बुलाय।
पलटू शिष्य चमार सम, गुरुवा मेस्तर आय।।

प०सा० कीबानी—३, पृ० ११५

१३. कनफूँका गुरु और का, बेहद का गुरु और।
बेहद का गुरु जब मिलै, (तब) लहै ठिकाना ठौर।।

— संत बा० सं०—१, (कबीर) पृ० ४

१४. ज्ञान सरीषा गुरु न मिलिया चित्त सरीषा चेला।
मन सरीषा मेलू न मिलिया ताथैं गोरख फिरै अकेला।। — गोरखबानी, सा० १८१

१५. जन दरिया सतगुरु मिला, कोई पुरबले पुन्न।
जड्ड पलट चेतन किया, आनि मिलाया सुन्न।। — संत बा० सं०, १, पृ० १२६

१६. वही, पृ० १५३

१७. जगजीवन घट—घट बसै, करमकरावन सोय।
बिन सतगुरु केसो कहै, केहि विधि दरसन होय।। — संत बा०सं०, १, पृ० १४१

१८. वही, पृ० १५४—१५५

१९. वही, पृ० १६८

२०. गुरु ब्रह्मा गुरु विष्नु हैं, गुरु संकर गुरु साधु।
दूलन गुरु गोविन्द मनु, गुरुमत अगम अगाधु।। — संत बा०सं०, १, पृ० १३३

२१.(क)सतगुरु धोबी जो मिले, दिल दाग छोड़ावे।
ब्रह्म अगिनि परगट करे, कर्म, भर्म जरावे।। — घरमदास की शब्दा०, श० ३

(ख) सतगुरु पूरा धोबी पाया, सतसंगति सौदाई है। — प०सा०बा० ३, पृ० २।

२२. सतगुरु सिकलीगर मिले, तब छुटै पुराना दाग।
— वहीं १, पृ० ९ तथा गरीबदास की बानी, पृ० १९

२३. तीरंदाज—सतगुरु तीरंदाज है, सेवक मन नीसाण।

रज्जब गुरु कमणैत सो, जा का बैठा बाण।।

– संतवाणी जयपुर वर्ष १, अंक ५ में स्व० श्री पुरोहित हरिनारायण शर्मा के महात्मा रज्जब जी शीर्षक लेख से उद्धृत। बधिक–क०ग्रं० (गुरुदेव को अंग) तथा संत बा० सं०१ पृ० ३

गोलंदाज–सतगुरु मेरा सूरमा, करै सबद की चोट।

मारे गोला प्रेम का, ढहै भरम का कोट।।

– चरनदास जी की बानी भाग १, पृ० २

२४. गुरु में चुंबक, पारस, चंदन और कपूर की विशेषता बताने वाले भी उल्लेखनीय है। मृग और 'अलल पंख' जैसे जीवों से भी गुरु की विशेषताओं की उपमा दी गई है।

२५. सगा, दाता, अनन्त दिखावनहार, गोविन्द, अमृत की खान, जिन्दा जगदीश, पुरोहित और बादल आदि यदि कहा गया हो तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है। कुछ भक्त कवियों ने महेश, ब्रह्मा, विष्णु, गंगा, सूर्य और सर्वसमर्थ आदि भी कहकर गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है।

२६. सगा क०ग्रं० (गुरुदेव कौ अंग)

दाता वहीं। गोविन्द वहीं।

अनन्त दिखावनहार वही।

अमृत की खानि वही तथासंत बा० सं०, पृ० २

जिंदा जगदीश गरीबदास की बानी, पृ० ११

बादल– गुरु आये घन गरजि करि, सबंद किया परकास।

बीज पड़ा था भूमि में, भई फल फूल आस।।

– संत बा०सं०पृ० ७१ दरिया साहब पृ० १२६

२७. चरनदास जी की बानी– भाग १, पृ० ६–७

२८.(क) परमेसर सों गुरु बड़े, गावत वेद पुरान!

(ख) गुरु हैं चार प्रकार के, अपने अपने अंग।

गुरु पारस, दीपकगुरु, मलयागिरि गुरु भृंग।।

– संत वाणी (पटना) वर्ष २, अंक ११

२९. अपना करि सेवन करें, तीन भाँति गुरुदेव।

पंजापंछी कुंजमन, कछुवा दृष्टि जु भेंव।।

—चरनदास जी की बानी भाग १, पृ० ६

३०. वहीं, पृ० २—३ तथा क० ग्रंथावली—गुरुदेव को अंग।

(क) (दादू) सतगुरु मारे सबद सों, निरखि निरखि निज ठोर।
राम अकेला रहि गया, चीत न आवे ओर।। — सं०बा०सं० १, पृ. ६६

(ख) सतगुरु पसु मानस करे, मानस थैं सिध होइ।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होई।। दादू द० जी की बाणी— पृ० ३

३१. दा० द० की वाणी, पृ०. ६७

३२. सबदै नानक नामदेव, सबदै दास कबीर।
सबदै दूलन जगजिवन, सबदै गुरु अरु पीर।।

— संत बा०सं० १, (दूलनदास) पृ. १३६

३३. दरिया सूरा गुरुमुखी, सहै सबद का घाव।
लागत ही सुधि बीसरे, भूले आन सुभाव।। वही–१, पृ० १३०

लेखकों से निवेदन

1. संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी भाषाओं में ही लेख पत्रिका में स्वीकृत किए जाएँगे।
2. उपर्युक्त भाषाओं में लिखे गये लेख शुद्ध स्पष्ट एवं टंकित अथवा सुवाच्य हस्तलिखित होना चाहिए।
3. तन्त्र, आगम, मन्त्र, साधना, उपासना विधि आदि आनुषंगिक विषयों के लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार किए जाएँगे।
4. शोधस्तरीय, मौलिक तथा नवीन विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक उच्च स्तरीय लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार्य होंगे।
5. सभी लेख 10 फुलस्केप अथवा ए-4 साइज कागज पर एक तरफ टंकित अथवा स्पष्ट हस्तलिखित होना चाहिए।
6. सम्पादकीय मण्डल एवं विषय विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकित एवं संस्तुत मौलिक लेखों को ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया जाएगा।
7. लेखों के साथ अपेक्षित चित्र, चार्ट अथवा डायग्राम आदि भी प्रतिपादित विषय की स्पष्टता के लिए संलग्न किये जाने चाहिये।
8. लेखकों द्वारा प्रेषित लेख पंजीकृत डाक द्वारा अपने व्यय पर सुरक्षित प्रेषित किया जाना चाहिए। प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें, ताकि लेख अस्वीकार्य्य होने की दशा में आपकी रचना आपके पास संरक्षित रह सके।
9. जो लेख प्रेषित किया जाय वह प्रकाशन से 3 महीने पूर्व कार्यालय में पहुँचना अनिवार्य है।
10. समस्त लेखकों को, जिनके लेख पत्रिका में प्रकाशित हैं, उनको पत्रिका की एक प्रति डाक द्वारा प्रेषित की जाएगी।
11. प्रकाशनार्थ लेखों को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक मण्डल द्वारा सुरक्षित रहेगा।
12. पत्रिका में प्रकाशित लेखों में निहित सूचनाओं, विचारों, सामग्रियों आदि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।
13. सम्पादक मण्डल द्वारा निर्णीत शोध एवं मौलिक लेख पुरस्कृत भी किए जा सकते हैं।
14. लेखों के विषय में कोई विवाद किसी संस्था या न्यायालय द्वारा आपत्ति उठाये जाने पर लेखक द्वारा सीधे इसका प्रत्युत्तर एवं संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना आवश्यक होगा।

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई० में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रसार के लिये श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामी करपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरूज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गंगाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठत है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसन्धान प्रकाशन विभाग एवम् अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवम् गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय, साधक प्रशिक्षण/ साधकावास एवम् अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परकि आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेद शास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ का द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन क्रम में श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या (पूजापद्धति), भक्तिसुधा, भुवनेश्वरीवरिवस्या, साम्बपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), विरूपाक्षपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र, श्रीमहा– गणपतिवरिवस्या, उपचारमीमांसा आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग १–२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश और विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थो, आगम–तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालय स्थापित कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जीं द्वारा श्रीविद्यासाधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री श्रीशांकरी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयंत्र की स्थापना भी की गयी हैं। जहाँ प्रतिदिन श्रीयंत्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय १० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ निःशुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामान्यतः आगमतंत्र के रहस्यो को साधको तक उपलब्ध कराने हेतु षणमासिक पत्रिका श्रीविद्या का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में भी देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्यासाधना पीठ द्वारा प्रकाशित श्रीदत्तत्रेयानन्दनाथ जी द्वारा सम्पादित एवं रचित ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	मूल्य
१. श्रीविद्यारत्नाकर	१४०/-
२. श्रीविद्यावरिवस्या (पूजा विधि सहित)	७०/-
३. श्रीमहागणपति वरिवस्या	६०/-
४. श्रीभुवनेश्वरी वरिवस्या	५०/-
५. श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	२०/-
६. उपचार मीमांसा	५०/-
७. मंत्र महायोग	२०/-
८. श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	२०/-
९. श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् प्रथम एवं द्वितीय खण्ड (हिन्दी भावविवृति सहित) प्रति सेट	१८००/-

श्रीयन्त्रम्